नागार्जुन रचना संचयन

संपादक

राजेश जोशी
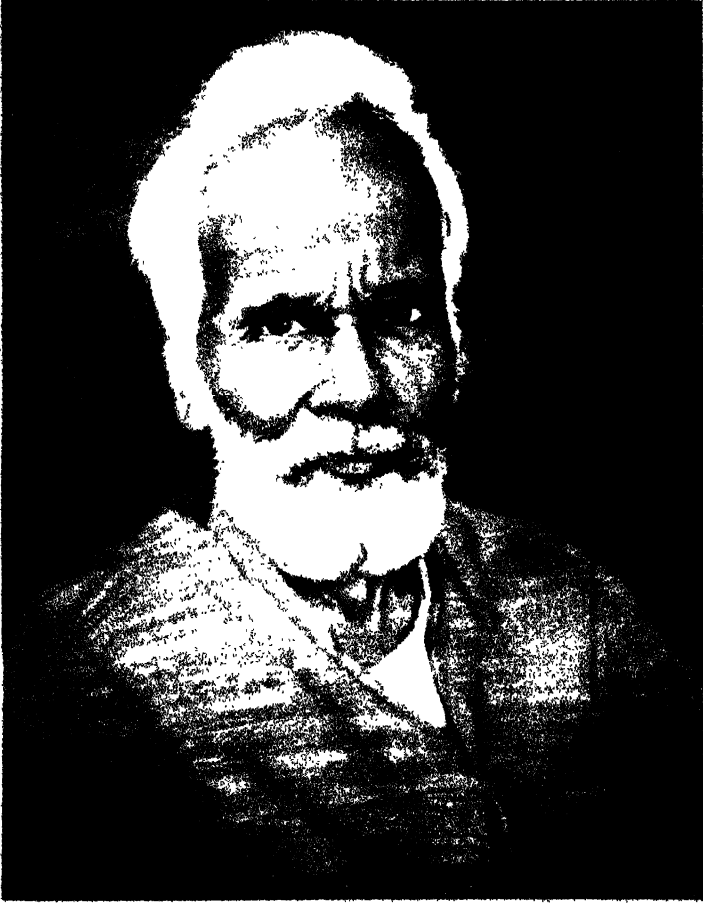
नागार्जुन रचना संचयन

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

नागार्जुन रचना संचयन

भूमिका एवं चयन

राजेश जोशी

साहित्य अकादेमी

Nagarjuna Rachana Sanchayan : An anthology of selected writings of Nagarjuna in Hindi, compiled and edited by Rajesh Joshi. Sahitya Akademi, New Delhi   Rs. 150

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

एडीए रंगमंदिर, जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443 (304) अन्ना सालइ तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-1907-7

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

मुद्रक : नवचेतन प्रिंटर्स,
1ई/2, झंडेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110055

अनुक्रम

मैथिली कविताएँ

बाङ्ला कविताएँ

संस्कृत कविताएँ

नागार्जुन का गद्य

आत्मकथ्य :

यात्रा संस्मरण

कहानी :

एक व्यक्ति : एक युग

संस्मरण :

निबंध :

उपन्यास :

परिशिष्ट

भूमिका

नागार्जुन की कविता अपने रचना लोक में धँसने की इच्छा से पहले अपने अचरज भरे और ओर-छोर फैले भूगोल में भटकने को आमंत्रित करती है। हमारी बहुलताओं के रागरंग की हलचल से भरी वह, अविरल और अनथक यात्राओं के संस्मरण की तरह है। वह हमारे भौगोलिक, प्राकृतिक, जैविक और प्रतिपल घटित मानवीय व्यवहार का इतिहास भी है और जीवंत साक्ष्य भी। उसमें वस्तुओं की उपस्थिति केन्द्रीय नहीं है। यह वस्तुतः घटनाओं का संसार है। घटनाओं को दर्ज़ करता, अतिक्रमित करता और प्रक्रिया में बदलता हुआ। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन और कवि नागार्जुन में एक महीन-सा आंतरिक रिश्ता है। गोचर साक्ष्य ही उनका केन्द्रीय बिन्दु है या कहें कि टेक ऑफ़ प्वाइंट है। 'देखा है' जैसा पद नागार्जुन की कविता में पद की तरह भी मौजूद है और क्रिया के रूप में भी। यह उन्हें विरासत से मिली घुमक्कड़ी से मिला है। मनोहर श्याम जोशी को दिए एक साक्षात्कार में नागार्जुन ने कहा है, ''पिता का मन गाँव में लगता नहीं था। ज़मीन इतनी थी कि परिवार की पालना कर सकें किन्तु खेतीबारी में पिता का मन रमता नहीं था। बेकारी, घुमक्कड़ी उन्होंने अपनी इच्छा से अपना रखी थी। मिथिला प्रदेश में उन दिनों रेल का चक्र-पथ टिकिट मिला करता था, उसे पिता अक्सर खरीदते और ठक्कन भी उनके साथ-साथ छुक-छुक गाड़ी में गोल-गोल घूमता। पिता ने ठक्कन को और कुछ न दिया हो, पाँव का सनीचर उत्तराधिकार में अवश्य दिया।''

'देखा है' लेकिन मात्र देखा है तक सीमित नहीं है। इसमें जितना देखना शामिल है उतना ही सुनना, सूँघना और चखना भी शामिल है। उनकी आँख जितनी अपलक जाग्रत है उनके कान भी उतने ही चौकन्ने हैं और अन्य इंद्रियाँ भी उतनी ही सजग। उनकी रचना एक ऐसे प्रिज़्म की तरह है जिससे गुजरते ही जीवन के सारे रंग-ढंग हमारे सामने उजागर होने लगते हैं।

शोभाकांत ने *नागार्जुन रचनावली* की भूमिका में लिखा है, ''1911 ई. की ज्येष्ठ पूर्णिमा को निहायत मामूली और अपढ़ परिवार में जन्मे वैद्यनाथ मिश्र अपने ग्रामीण परिवेश में संस्कृत की पारंपरिक पढ़ाई करते समय समस्यापूर्ति शैली में साहित्य कर्म शुरू कर हिन्दी के नागार्जुन और मैथिली के यात्री हो गए। इन दो भाषाओं के अलावा संस्कृत और बाङ्ला में भी मौलिक लेखन करने वाले नागार्जुन जीवन भर बड़े ही सहज और यायावरी वृत्ति के व्यक्ति रहे। 1925 ई. में संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास करने के बाद आगे अध्ययन के लिए घर से निकले तो निकल ही गए। इसके बाद अपनी ठेठ बुढ़ौती तक उन्होंने किसी गाँव, प्रांत या देश के किसी कोने में अपना स्थायी ठौर ठिकाना नहीं बनाया। यहाँ तक कि अपनी रचनाओं को सहेज कर रखने तक की ज़रूरत महसूस नहीं की। रचनाओं को क्रमवार व्यवस्थित करना तो उन्होंने कभी आवश्यक ही नहीं समझा।'' यह बात उनकी रचनाओं और उनके जीवन वृत्त दोनों पर ही लागू होती है। 'आईने के सामने' जैसे आत्मकथ्य, *रतिनाथ की चाची* और *बलचनमा* जैसे उपन्यास,

मनोहरश्याम जोशी, कृष्णा सोबती, पंकज सिंह आदि को दिए दर्जनों साक्षात्कार, 'थो लिंग महाविहार', 'सिंध में सत्रह महीने', 'टिहरी से नेलंग' जैसे यात्रा संस्मरण, निराला, राहुल, रेणु आदि पर लिखे संस्मरण और अनेक कविताओं में उनकी आत्मकथा के सूत्र बिखरे हुए हैं। इन सबको जोड़कर भी इस घुमंतू कवि के जीवनवृत्त का एक टूटा बिखरा-सा कोलाज तो बनाया जा सकता है लेकिन एक व्यवस्थित क्रमवार जीवनवृत्त बनाना असंभव-सा काम है। पंच तत्त्वों से बने इस देहधारी के पाँच नाम हैं। गॉव का और बचपन का नाम ठक्कन, एक नाम बैद्यनाथ मिश्र या बैद्यनाथ मिसिर, फिर वैदेह जिससे 1930 में पहली मैथिली कविता प्रकाशित हुई, फिर शायद अपनी घुमक्कड़ी के लिए चुना उपनाम यात्री और बौद्ध होने के बाद अपनाया नाम नागार्जुन। बचपन के तिक्त अनुभव उसके अंतःकरण के अनिवार्य हिस्से हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर लिखी कविता में कुछ पंक्तियों से इसका अहसास हो जाता है : *पैदा हुआ था मैं/दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में/आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से*। एक साक्षात्कार में भी उन्होंने कहा है कि ''ठक्कन का बचपन ठुकराये जाने की यादों से भरा हुआ है।''

दूसरी निर्णायक घटना जिसने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों पर गहरा प्रभाव डाला, वह थी उनका बौद्ध होना। कई वर्ष उन्होंने बौद्ध मठों और अध्ययन केन्द्रों में बिताए है। उनके यात्रा वृत्तांतों से भी पता चलता है कि उन्होंने इस दौर में प्राकृत और भोट याने तिब्बती भी सीखी और बौद्ध ग्रंथों का अभ्ययन किया। किसी भी कवि की तरह उनकी रचना में भी बचपन की स्मृतियों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कई बार लगता है कि गरीब ब्राह्मण कुल और किसान परिवार में जन्मे नागार्जुन के बौद्ध हो जाने ने उनके आभ्यंतर में किस क़िस्म के टकरावों को जन्म दिया होगा, इसका अध्ययन होना चाहिए। बचपन की स्मृतियाँ और संस्कार और बौद्ध होने के बाद बने मानस की वैचारिक और संवेदनात्मक संरचना के बीच क्या कोई टकराव नहीं हुए होंगे? क्या इसका प्रभाव उनकी रचना प्रक्रिया पर नहीं पड़ा होगा? इस टकराव ने किस तरह के अंतर्विरोधों और किस तरह के नए कौशलों को पैदा किया है, इसके लिए गहरे शोध की आवश्यकता है। तीसरी महत्त्वपूर्ण घटना जिसने उनके अंतःकरण के आयतन को और अधिक व्यापक बनाया. वह थी स्वामी सहजानंद के साथ स्वाधीनता संघर्ष और किसान आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी। नागार्जुन अपनी चिरपरिचित फक्कड़ी और मस्ती के बावजूद एक बेचैन कवि हैं। वे सिर्फ़ बाहर हो रहे की ही आलोचना नहीं करते, एक आत्मालोचना की निरंतरता वहाँ है जो कई बार तो आत्म भर्त्सना तक भी पहुँच जाती है। बौद्ध दर्शन के अनुसंधान में लगे नागार्जुन इसीलिए तो बीच यात्रा से लौट आते हैं। कहते हैं— 'मन में कहीं लग रहा था कि वर्तमान से मुँह मोड़कर अतीत में भागना ठीक नहीं है।' इसी समय स्वामी सहजानंद ने उनसे कहा, 'क्या करोगे पुरातत्त्व का, पुरालेख का, नए तत्त्व से जूझो, नए लेख को बाँचो। तो हम उनके आश्रम में चले गए। उनके आंदोलन में कूद पड़े। दो वर्ष में तीन बार जेल गए।' और इस सबके बीच है उनकी घुमक्कड़ी जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का केन्द्रीय तत्त्व है। लेकिन यह घुमक्कड़ी बहुत सरल नहीं है। इसमें भी

कई पेंच हैं। इसने उन्हें फक्कड़ भी बनाया है, हर तरह की विविधता के प्रति आग्रही भी और बेहद ऐन्द्रिक भी। उनमें चित्रण के बनिस्बत विवरण पर अधिक बल है। इसलिए उनकी कविता सिर्फ़ देखा है कि कविता नहीं है वह पाठक और श्रोता को देखना सिखाती भी है।

कवि हूँ सच है किन्तु क्षणिक तथ्यों को यों अवहेलित करके
शाश्वत की सीमांत कभी क्या छू पाऊँगा?

नागार्जुन की कविता का प्रस्थान बिन्दु इंद्रिय गोचर साक्ष्य है। इसलिए वह एक घटना या दृश्य को दर्ज करने से शुरू होती है। उसमें आदिम और आधुनिक दोनों का स्वाद और चमक मौजूद है। जीवन और प्रकृति के छोटे से-छोटे क्षण को भी, जिसके वे साक्षी हैं, कभी अलक्ष्य नहीं होने देते। ऐसी हर घटना जो उनकी इंद्रियों की परिधि में हो और जो उनको हिला दे, उनकी वैचारिकता को झनझना दे, को बाँध लेने की ललक और क्षमता ही उनकी रचना के बारे में तात्कालिकता का भ्रम पैदा करती है। शायद बौद्ध दर्शन ने ही उन्हें इस ओर प्रेरित किया होगा कि जो क्षणिक नहीं है वह वास्तविक भी नहीं है। कोई भी चीज़ जड़ नहीं है, ठहरी हुई नहीं है, न ही शाश्वत है।

नागार्जुन के लिए क्षण में उसकी सार्वभौमिकता भी निवास करती है। यह सामान्य क्षण या घटना ही उनके लिए विशिष्ट है, वास्तविक है। इसी आब्जेक्ट से उन्हें अपनी काव्य उत्तेजना प्राप्त होती है। यह उनकी कविता का प्रस्थान बिन्दु है। अनुभवजन्य दिक और काल का पुनर्सृजन करते हुए वे उसका अतिक्रमण कर जाते हैं। इस तरह एक गोचर साक्ष्य से शुरू हुई कविता विराट और अनेक संस्तरों वाली सामाजिक प्रक्रिया से अपने ताने-बाने जोड़ती जाती है। अपने वैचारिक निष्कर्षों को वह ढाँक-मूँदकर नहीं रखती। लेकिन अंतिम निर्णय सुनाकर विचार की प्रक्रिया को समाप्त कर देने का काम भी नहीं करती। वह उसे निरंतरता देते हुए स्वतंत्र भी करती है। उसमें हमारी विद्रूपताएँ भी हैं और विडंबनाएँ भी। नागार्जुन की चेतना अदृश्य सूत्रों से जनता की विराट देह से जुड़ी है। इसीलिए तो जनता पर यहाँ-वहाँ दगती शासन की बंदूकों को वे बहुवचन में उपयोग नहीं करते। सबको जोड़कर नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक बना देते हैं। बहुवचन को जोड़ कर एक विराट एकवचन में बदल देने का यह प्रयोग नागार्जुन की ही कविता में मिलता है।

नागार्जुन की कविता की आख्यानात्मकता और उनके आख्यानों की काव्यात्मकता एक दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। शायद इसीलिए *वरुण* के बेटे या *बाबा बटेसरनाथ* जैसे उपन्यासों को पढ़ते हुए एक प्रदीर्घ कविता का पढ़ने का अहसास होता है और 'नेवला' और 'हरिजनगाथा' जैसी कविताओं को पढ़ते हुए एक वृहत् आख्यान को पढ़ने का। उनकी अनेक कविताएँ छोटे-छोटे आख्यानों और उपाख्यानों से बनी हैं। शायद इसीलिए उनकी कविता में विवरण तो है, कई बार बहुत महीन और अक्सर अलक्ष्य कर दिए जानेवाले विवरण भी लेकिन उनमें चित्रण अधिक नहीं है। लोगों के व्यवहार,

रीतिरिवाज, पहरावे, भाषा और भाव की भंगिमाएँ आदि अनेक महीन ब्यौरे, अपनी पूरी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के साथ उनकी कविता में मौजूद हैं। इस तरह नागार्जुन ने जनता की सहज वृत्ति को टटोलते हुए हमारी बहुलता के बीच एकता के सबसे ज़रूरी सूत्र को तलाश किया है।

निराला के बाद नागार्जुन अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने इतने छंद, इतने ढंग, इतनी शैलियाँ और इतने काव्य रूपों का इस्तेमाल किया है। पारंपरिक काव्य रूपों को नए कथ्य के साथ इस्तेमाल करने और नए काव्य कौशलों को संभव करनेवाले वे अद्वितीय कवि हैं। उनके कुछ काव्य शिल्पों में ताक-झाँक करना हमारे लिए मूल्यवान हो सकता है। इस चयन को तैयार करते हुए इस बात की कोशिश मैंने की है कि इसका थोड़ा-सा आभास पाठकों को मिल सके। उनकी अभिव्यक्ति का ढंग तिर्यक भी है, बेहद ठेठ और सीधा भी। अपनी तिर्यकता में वे जितने बेजोड़ हैं, अपनी वाग्मिता में वे उतने ही विलक्षण हैं। काव्य रूपों को इस्तेमाल करने में उनमें किसी प्रकार की कोई अंतर्बाधा नहीं है। उनकी कविता मे एक प्रमुख शैली स्वगत में मुक्त बातचीत की शैली है। नागार्जुन की ही कविता से पद उधार लें तो कह सकते हैं—*स्वगत शोक में बीज निहित हैं विश्व व्यथा के।* उनकी कविता एक ऐसी बातचीत है जो दूसरों को संबोधित है, जो अंतर बाह्य की अटूट संधि से बनी है। उसमें विश्व व्यथा के बीज भी हैं और स्वगत शोक भी। इस तरह की शैली ज़्यादातर आख्यानात्मक और गद्य कविताओं में अधिक सामर्थ्य के साथ प्रकट होती है। उनकी गद्य लय का उठान काव्य लय के स्तर तक जाता है और कई बार उनकी काव्य लय ठेठ गद्य की लय को छूने लगती है। इसमें उनकी विवरण कला और बातूनीपन का विलक्षण युग्म देखा जा सकता है। विशेष रूप से उत्तर भारत और पूर्वांचल के लोगो का बातूनीपन, गप्प मारने, हँसने-हँसाने, ठिठोली करने, बीच-बीच मे चिउँटी काटने, यहाँ तक की शरारत और आब्सिनिटी का भी बेहद सतर्क उपयोग उनकी कविता में है। इस शैली के लचीलेपन का उपयोग करते हुए नागार्जुन कई तरह की स्वतंत्रता लेते हैं। वे कई बार एक से अधिक काव्य रूपों या छंदों का इस्तेमाल एक ही कविता में कर लेते हैं। इस तरह का मिश्रण नाटकीयता को तो पैदा करता ही है साथ ही हमारी सामाजिक संरचना की ओर भी इंगित करता है। इस शैली में घुमक्कड़ी की मुक्तता भी है और गति भी। वे उन कवियों में नहीं हैं जो अपने ज्ञान और कौशल से स्वयं भी आक्रांत होते हैं और हमेशा दूसरों को चमत्कृत करने की मनोग्रंथि से ग्रस्त रहते हैं। स्वगत और मुक्त बातचीत की शैली में उनकी लंबी कविता 'नेवला' तथा 'हरिजन गाथा' अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यह महज़ संयोग नहीं है कि आत्मकथात्मक हिस्से अक्सर उनकी इसी शैली की कविताओं में दिखाई पड़ते हैं।

नागार्जुन की कविता में 'आत्मा' शब्द का इस्तेमाल अपवाद स्वरूप ही हुआ है। बुद्ध के अनात्मवाद से इसका क्या रिश्ता है, है भी या नहीं कहना मुश्किल है; लेकिन उनकी कविता में एक नाभीय बिन्दु अक्सर ओझल-सा होता है। उसमें परत-दर-परत कई परतें खुलती चलती हैं। उसमें आवर्त्त-दर-आवर्त्त बाहर की ओर फैलते और बाहर

से भीतर की ओर सिमटते आवर्त्त होते हैं। इस कारण अक्सर वह बहुत खुला-खुला-सा शिल्प लगता है। नागार्जुन की कविता के शिल्प ने इस महादेश के विराट भूगोल, उसकी सामाजिक विविधताओं और विस्मयकारी प्रकृति ने बहुत कुछ जोड़ा है। बहुत कुछ रचा-बुना है। उनके छंद का संगीत समतल और सरल रैखिक नहीं है। वह वक्रीय है। उसमें उतार-चढ़ाव भी हैं और गोलाइयाँ भी। स्वर के परस्पर संघात और आघात से आगे बढ़ती लय है। लक्ष्य किया जाना चाहिए कि जब-जब जन आंदोलन तीव्र हुए हैं उनकी कविता की लय भी तब-तब अधिक तीव्र हुई है। जन आंदोलन और दमन के बीच मुठभेड़ को उनके शब्दों के परस्पर संघात में भी महसूस किया जा सकता है। तेलंगाना से लेकर '90 के दौर तक की कविताओं में इसका अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए। करुणा और उदासी के अंतर प्रवाह के साथ इसे जेल में लिखी कविताओं में भी सुना और देखा जा सकता है।

नागार्जुन कई बार एक पद या अर्धाली की आवृत्ति से एक लयात्मक वर्तुल बनाते हैं जिसमें पहले बाहर की ओर फैलते आवर्त्त बनते हैं और बाद में केन्द्र की ओर लौटते आवर्त्त। कभी-कभी लगता है जैसे कोई 'जनचक्र' को घुमा रहा हो।

कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त

और इसी के दूसरे पैरा में लय उलट जाती है :

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

लगता है जैसे सारी यात्राएँ बार-बार वापस मिथिला की ओर लौट रही हैं। आवृत्ति घटना का अतिक्रमण करके उसमें अंतर्निहित प्रवृत्ति को प्रकट कर देती है। शब्द संघात से कई बार नागार्जुन एक विराट ध्वनि बिम्ब भी रचते हैं। ध्वनि बिम्ब से किसी विराट बिम्ब को रचने के इस कौशल में मुक्तिबोध और नागार्जुन आस-पास लगते हैं।

नागार्जुन नज़ीर और भारतेन्दु के मिले-जुले उत्तराधिकार को कविता में संभव बनाते हैं। इसमें सहज संप्रेषणीयता भी है और अद्भुत नाटकीयता भी। उनकी नाटकीयता में व्यंग्य है, हँसी है, गुस्सा है, चुहुल है लेकिन सारा कुछ एक बेहद सजग और जागृत राजनीतिक चेतना के साथ। उनकी हँसी महज़ हँसी नहीं है, वह बेहद साहस भरी हँसी है जो अभिजात को छेदती है, अन्यायी का मज़ाक़ उड़ाती है और अन्यायी पर हँसने और उसका विरोध करने का साहस देती है। कई बार गुस्सा उनके व्यंग्य की जगह ले लेता है, तब नागार्जुन बहुत मुखर हो जाते हैं। उनकी कविता नुक्कड़ नाटक के समानांतर एक

भूमिका भी अदा करती है। वहाँ उनका अंदाज़ नज़ीर की तरह और विवेक भारतेन्दु की तरह होता है। उनकी राजनीतिक कविताएँ कई बार विवाद का विषय रही हैं। यह विवाद उनकी मूल वर्गीय राजनीतिक चेतना को लेकर उतना नहीं है, जितना वह उनकी व्यावहारिक राजनीति की समझ और उस पर की गई टिप्पणियों को लेकर है। किसी भी रचनाकार की राजनीतिक दृष्टि उसकी पूरी रचना प्रक्रिया और रचना कौशल में अंतर्गुम्फित होती है। इसलिए वह उसके शिल्प, उसकी भाषा और उसके काव्य मुहावरे में भी प्रतिबिम्बित होती है।

नागार्जुन की भाषा बहुत फैली हुई भाषा है। बहुत सघन, संकुल और बहुत उन्मुक्त भी। उसमें विभिन्न बोलियों के, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी के भी कई शब्द मौजूद हैं। नागार्जुन की रचना भाषा शब्दों को ग्रहण करने के अर्थ में बहुत लचीली और समावेशी है। उसके तल में बोलियों की सहस्रधारा का अंतर्प्रवाह सतत् मौजूद रहता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने नागार्जुन की भाषा के लिए लिखा है—''हिन्दी भाषी क्षेत्र के किसान मजदूर जिस तरह की भाषा आसानी से समझते और बोलते हैं, उसका निखरा हुआ काव्यमय रूप नागार्जुन के यहाँ है।'' जीवन की भाषा को पकड़ने में उनके कान बहुत चौकन्ने हैं और स्मृति विलक्षण। इसलिए उनकी भाषा में मिथिला की माटी की गंध और गंगा तट का ही संगीत नहीं, शिप्रा के तट की मालवी मिठास और बेतवा के तट की बुंदेली ठसक भी सुनाई पड़ती है। एक कविता में अपने भाषा सम्बन्धी आग्रह को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—*हिन्दी की है असली रीढ़ गँवारू बोली।* मिथकों के साथ नागार्जुन के व्यवहार में भी उनकी सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि को देखा-समझा जा सकता है। नागार्जुन ने अपनी मूल राजनीतिक दृष्टि को जन के साथ गहरे और आत्मीय जुड़ावों के बीच अर्जित किया था। उनकी कविता में परिचित, अपरिचित और अल्पज्ञात व्यक्तियों की उपस्थिति किसी भी अन्य कवि से अधिक है। इन परिचितों में कालिदास, भारतेन्दु, रवीन्द्रनाथ, निराला जैसे अग्रज रचनाकार हैं, गोर्की, लू शुन, ब्रेष्ट आदि जैसे विदेशी रचनाकार हैं, केदारनाथ अग्रवाल, शैलेन्द्र, हरिशंकर परसाई, रेणु, राजकमल चौधरी जैसे अपने समकालीन और बाद की पीढ़ी के रचनाकार हैं। गांधी, नेहरू, नाग भूषण पटनायक जैसे कई युगपुरुष हैं। अपने समय के कई राजनीतिज्ञ हैं और किसी अनहोनी घटना से अचानक चर्चा में आ गए कई सामान्य लोग हैं। इस एलबम में बीसवीं सदी के पचास-साठ बरस के अनेक चेहरे हैं। लगभग सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सामाजिक घटनाओं के दृश्य हैं। व्यक्तियों पर लिखी कविताओं में नागार्जुन की अंतर्दृष्टि के कई पक्ष उजागर होते हैं।

नागार्जुन मात्र राजनीतिक कवि नहीं हैं। इस महादेश की विपुल और विविधरंगी प्रकृति का ऐसा अनुगायन, जैसा नागार्जुन की कविताओं में संभव हुआ है, बहुत कम ही कवियों में संभव हो सका है। बादल उनकी कविता का जैसे एक केन्द्रीय पात्र है। इस बादल की जल नाड़ियाँ बहुत दूर-दूर तक फैली हैं। संस्कृत की क्लासकीय परपरा में अगर इसका एक छोर है तो दूसरा ठेठ लोक से जुड़ा है। उनकी आधुनिकता परंपरा

और लोक के निषेध से बनी आधुनिकता नहीं, अपनी परंपरा को आत्मसात करके अर्जित आधुनिकता है। वे एक ठेठ भारतीय आधुनिक हैं, जिसकी शक्ल न तो परंपरावादियों से मिलती है और न आधुनिकतावादियों से। बादल का हवाला आते ही नागार्जुन का मन झूमने लगता है। मस्ती का ऐसा विकट मूड उनमें शायद ही कहीं और दिखता हो। सारी इंद्रियाँ चौकन्नी हो जाती हैं। इन रचनाओं में जन-जागरण जैसा उल्लास है और लोकमंगल की इच्छा से लबालब मन। बादल उनकी यायावरी का सखा है। उन्हीं की तरह घुमक्कड़। नागार्जुन के मेघ मे कालिदास की करुणा भी है और निराला का दुर्धर्ष संघर्ष भी। उसमें शृंगार भी है और लोकगीतों की छेड़छाड़ भी। उसकी जल नाड़ियाँ कहाँ-कहाँ तक फैली हैं, नागार्जुन से कुछ भी छिपा नहीं है। विराट प्रकृति का अनुगायक ही प्रेम का कवि हो सकता है। नागार्जुन की प्रेम कविताएँ इसका अद्भुत साक्ष्य हैं। नागार्जुन की कुछ प्रेम कविताएँ इस चयन में दी गई हैं। नागार्जुन की इन कविताओं में उनके अक्सर अदेखे कर दिए जाने वाले निजी कोनों को देखा और छुआ जा सकता है। नागार्जुन की रचनाओं से उनके व्यक्ति के जितना निकट हम होते जाते हैं, उनकी रचना का संसार उतना ही ज़्यादा हमारे सामने खुलता जाता है। इसलिए मुझे लगता है कि नागार्जुन को पढ़ने के लिए उनकी रचना के दो बार पाठ की ज़रूरत होती है। एक बार रचना से उनके व्यक्ति तक पहुँचने के लिए और दूसरी बार व्यक्ति से वापस उनकी रचना के संसार में आने के लिए।

इस चयन में नागार्जुन की कविता के साथ ही उनके गद्य से भी हमने कुछ रचनाओं को चुना है। नागार्जुन कवि या उपन्यासकार की तरह अधिक जाने जाते हैं। उन्होंने लेकिन व्यक्तियों के संस्मरण और यात्रा संस्मरण भी लिखे हैं, कई कहानियाँ भी और वैचारिक लेख भी। नागार्जुन के गद्य से यहाँ उनकी कुछ ही रचनाएँ हम दे रहे हैं। उनके सर्वाधिक चर्चित तीन उपन्यासों—*रतिनाथ की चाची*, *बलचनमा* और *वरुण के बेटे* से एक-एक अंश हमने चुना है। दो कहानियाँ, एक यात्रा संस्मरण, एक निबंध, राहुल सांकृत्यायन और फणीश्वरनाथ रेणु पर दो संस्मरण, निराला पर लिखी उनकी छोटी-सी पुस्तक *एक व्यक्ति : एक युग* से एक अंश और सारिका में प्रकाशित होने वाले चर्चित कॉलम 'आईने के सामने' के लिए लिखा गया एक आत्मकथ्य यहाँ दिए गए हैं। इस छोटे-से खंड से नागार्जुन के गद्य की एक बानगी मिल सकेगी।

नागार्जुन ने एक साक्षात्कार में कहा है, "हमारा खेती में मन नहीं। गाँव जाते रहते हैं। लेकिन एक वह जो लगातार निरंतर गृह जीवन होता है, वह हमारा हुआ नहीं। कभी ये, कभी वो, उसमें पचास झंझट हैं। हमारी घुमक्कड़ी की पचासों ललक हैं। घुमक्कड़ होने का मतलब यह नहीं कि हम घरेलू आदमी नहीं हैं। समझ गए ना? नितांत पारिवारिक दृष्टिकोण है हमारा।" (कहाँ-कहाँ से गुज़र गए : मनोहरश्याम जोशी से बातचीत, *आलोचना* 56-57)

मतलब यह कि नागार्जुन की घुमक्कड़ी में सिर्फ़ बाहर की ओर होती यात्रा नहीं है। उसमें वापस गाँव की ओर, घर की ओर लौटना भी शामिल है। उसमें यायावर होना

शामिल है तो घरेलू होना भी। यह घर ज़रूरी नहीं कि हमेशा सिर्फ़ अपना ही घर हो। यह रचनाकार मित्रों का घर भी हो सकता है। मुख्य बात उस भाव की है, उस स्वभाव की जो घरेलू बनाता है। इसी से 'सिन्दूर तिलकित भाल' और 'दंतुरित मुस्कान' जैसी कविताएँ भी पैदा होती हैं। उनकी कविता का बड़ा हिस्सा अगर घर से बाहर जाने से बना है तो कई बार लगता है कि उनके आख्यान का बड़ा हिस्सा उनके घर और गाँव लौटने की प्रक्रिया का परिणाम है। कई बार नागार्जुन को पढ़ते हुए यह तय करना कठिन लगता है कि उनके कवि को उनके उपन्यासकार ने रचा है या उनके उपन्यासकार को उनके कवि ने। शोभाकांत ने *नागार्जुन रचनावली* के खंड चार की भूमिका में लिखा है— ''सन् 1939 ई. के मार्च में राहुल सांकृत्यायन और नागार्जुन अमबारी में किसान आंदोलन का नेतृत्व करने के कारण गिरफ़्तार कर छपरा जेल में रखे गए थे। नागार्जुन की यह पहली जेल यात्रा थी। राहुल उस समय तक कई बार जेल जा चुके थे। जेल में वह अपने समय का उपयोग लिखाई के लिए किया करते। अक्सर डिक्टेशन देकर लिखवाते। इस जेल यात्रा में राहुल जी ने अपना उपन्यास *जीने के लिए* नागार्जुन को डिक्टेशन देकर लिखवाना शुरू किया। संभवतः उपन्यास लिखने की पहली प्रेरणा नागार्जुन को इस डिक्टेशन से ही मिली।'' इसके साथ ही 1944 में नागार्जुन ने गुजरानी उपन्यास *पृथ्वी वल्लभ* का अनुवाद भी किया था। 1946 में उन्होंने अपना पहला उपन्यास *पारो* लिखा, यह मैथिली में लिखा गया। 1948 में पहला हिन्दी उपन्यास *रतिनाथ की चाची* लिखा। उपन्यास की तात्कालिक प्रेरणा का कारण जो भी रहा हो लेकिन वास्तव में कहीं-न-कहीं स्वाधीनता का महासमर ही प्रेरणा का कारण रहा होगा। नागार्जुन के गद्य में भी वे सारी ख़ूबियाँ मौजूद हैं जो उनकी कविता की भी ख़ूबियाँ हैं। वर्णन की कला में नागार्जुन अद्वितीय हैं। महीन-से-महीन ब्यौरे भी उनकी आँख से और उनकी स्मृति से बच नहीं पाते। *वरुण के बेटे* में मछलियों के प्रकारों का वर्णन किसी फ़िशरीज़ के विशेषज्ञ को मात कर देने को काफ़ी है।

नागार्जुन में गद्य और कविता को एक दूसरे से अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। ये दोनों ही पक्ष उनके दो हाथ की तरह हैं जिसमें एक काग़ज़ सँभालता है तो दूसरा क़लम। नागार्जुन के पास हर वक़्त एक मेग्नीफ़ाइंग ग्लास रहता था। इस ग्लास से वे दूर की चीज़ों को पास ले आते थे और छोटी चीज़ों को बड़ा कर देते थे। यह मेग्नीफ़ाइंग ग्लास सिर्फ़ उनके हाथ में ही नहीं है, वह उनके रचनाकार की आँख में भी मौजूद है, उसके विचारों और उसकी संवेदना में भी। नागार्जुन का यह मेग्नीफ़ाइंग ग्लास विद्रूपताओं को ही स्पष्ट नहीं करता वह मनुष्य की अच्छाइयों को भी मेग्नीफ़ाई करने का काम करता है। इसलिए नागार्जुन का व्यंग्य जितना तिक्त है उनका प्रेम और करुणा भी उतनी ही गहरी है।

राजेश जोशी

हिन्दी कविताएँ

प्रतिबद्ध

प्रतिबद्ध हूँ
संबद्ध हूँ
आबद्ध हूँ

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ—
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त...
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ ..
अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया-धसान' के ख़िलाफ़. .
अंध-बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए...
अपने आप को भी 'व्यामोह' से बारंबार उबारने की ख़ातिर..
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ!

संबद्ध हूँ, जी हाँ, संबद्ध हूँ—
सचर-अचर सृष्टि से ..
शीत से, ताप से, धूप से, ओस से, हिमपात से ..
राग से, द्वेष से, क्रोध से, घृणा से, हर्ष से, शोक से, उमंग से,
आक्रोश से...
निश्चय-अनिश्चय से, संशय से, भ्रम से, क्रम से, व्यतिक्रम से.
निष्ठा-अनिष्ठा से, आस्था-अनास्था से, संकल्प-विकल्प से...
जीवन से, मृत्यु से, नाश-निर्माण से, शाप-वरदान से...
उत्थान से, पतन से, प्रकाश से, तिमिर से ..
दंभ से, मान से, अणु से महान् से...
लघु-लघुतर-लघुतम से, महा-महाविशाल से...
पल-अनुपल से, काल-महाकाल से...
पृथ्वी-पाताल से, ग्रह-उपग्रह से, नीहारिका-जल से...
रिक्त से, शून्य से, व्याप्ति-अव्याप्ति-महाव्याप्ति से...
अथ से, इति से, अस्ति से, नास्ति से...
सबसे और किसी से नहीं
और जाने किस-किस से...
संबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा संबद्ध हूँ।

रूप-रस-गंध और स्पर्श से, शब्द से...
नाद से, ध्वनि से, स्वर से, इंगित-आकृति से...
सच से, झूठ से, दोनों की मिलावट से...
विधि से, निषेध से, पुण्य से, पाप से...
उज्ज्वल से, मलिन से, लाभ से, हानि से...
गति से, अगति से, प्रगति से, दुर्गति से...
यश से, कलंक से, नाम-दुर्नाम से...
संबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा संबद्ध हूँ!

आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ—
स्वजन-परिजन के प्यार की डोर में...
प्रियजन के पलकों की कोर में...
सपनीली रातों की भोर में...
बहुरूपा कल्पना रानी के आलिंगन-पाश में...
तीसरी-चौथी पीढ़ियों के दंतुरित शिशु सुलभ हास में.
लाख-लाख मुखड़ों के तरुण हुलास में...
आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ!

[1975]
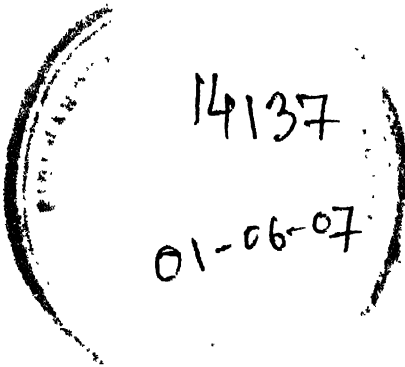
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है

नफ़रत की अपनी भट्ठी में
तुम्हें गलाने की कोशिश ही
मेरे अंदर बार-बार ताक़त भरती है
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है अपने ऋषि का,
वियेत्कांग के तरुण गुरिल्ले जो करते थे
मेरी प्रिया नहीं करती है...
नव-दुर्वासा, शबर-पुत्र मैं, शबर-पितामह
सभी रसों को गला-गला कर
अभिनव द्रव तैयार करूँगा
महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन
अष्ट धातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक मारूँगा
देखोगे, सौ बार मरूँगा
देखोगे, सौ बार जियूँगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी
मैं तो उसका ख़ून पियूँगा
प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का
जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, उद्‌गाता हूँ उस रवि का

[1979]

सौदा

चार बीड़ा पान थमाकर बोले मिस्टर ओसवाल :
बिज़नेस बिज़नेस है!
एमोशनल होने से चलता नहीं काम
जाइए, अभी आप कीजिए आराम...
घिसे हुए रिकार्ड की थर्राती ध्वनि में
बोला आख़िर मैं भी :
ठीक ही तो फ़रमाते हैं आप
मार्केट डल् है जेनरल बुक्स का
चारों ओर स्लंपिंग है; मगर! मगर, दो साल हो गए
बेटा जकड़ा है बोन-टी-बी की गिरफ़्त में
पचास ठो रुपइया और दीजिएगा
बत्तीस ग्राम स्टप्टोमाइसिन कम नहीं होता है
जैसा मेरा वैसा आपका
लड़का ही तो ठहरा
ऍ हें हें हें कृपा कीजिएगा
अबकी बचा लीजिएगा...ऍ हें हें हें
पचास ठो रुपइया लौंडे के नाम पर!

ओफ़्फ़ो ऽऽऽ ह!
—फुफ् फुफ् फुफकार उठे
प्रगतिशील पुस्तकों के पब्लिशर मिस्टर ओसवाल
नामी दुकान 'किताब कुंज' के कुंजीलाल
यहाँ तो ससुर मुश्किल है ऐसी कि...
और आप खाए जा रहे हैं माथा महाशय मंजुघोष!
इतना कहकर खटाक से सेठ ने
कैप्स्टन् का साबित पैकेट पटक दिया
झटके-से खुल गयी स्वर्णिम चेन दामी रिस्टवाच की
प्रतिफलित हो उठी
सामने पड़े अति रुचिर पेपरवेट की पीठ पर
बढ़ गई मेरे दिल की धड़कन
अति चेतन मन से मैंने सोचा...

रूठ गए अन्नदाता! हाय रे विधाता!!

फिर मैं तपाक से उठा, ठुड्डी छू ली अपने सेठ की
बटोर कर साहस क्षण भर बाद बुदबुदाया :
अच्छा, जैसी हो आपकी मर्ज़ी!
पचास न सही पच्चीस-या बीस
...इतना तो ज़रूर!
जिएगा तो गुन गायगा लौंडा हिं हिं हिं हिं, हुँ हुँ हुँ हुँ
रोग के रेत में लसका पड़ा है जीवन का जहाज़--
भन्नाकर बीच में ही बोले मिस्टर ओसवाल :
वाह भई वाह! खासी अच्छी कविता सुना गए आप तो!
थैंक्यू! थैंक्यू महाशय मंजुघोष!
लेकिन जनाब यह मत भूलिए कि डालमिया नहीं हूँ मैं,
अदना-सा बिज़नेसमैन हूँ
ख़ुशनसीब होता तो और कुछ करता
छाप-छाप कूड़ा भूखों न मरता
जितना कह गया, उतना ही दूँगा
चार सौ से ज़्यादा धेला भी नहीं
हो गर मंज़ूर तो देता हूँ चैक
वर्ना मैनस्कृप्ट वापस लीजिए
जाइए, ग़रीब पर रहम भी कीजिए

अपने उस सेठ का यह तेवर देखकर सचमुच मैं गया डर—
बिदक न जाएँ कहीं मिस्टर ओसवाल?
पांडुलिपि लेकर मैं क्या करूँगा?
दवाई का दाम कैसे मैं भरूँगा?
चार पैसे कम... चार पैसे ज़्यादा...
सौदा पटा लो बेटा मंजुघोष!
ले लो चैक, बैंक की राह लो
उतराए ख़ूब अब दुनिया की थाह लो
एग्रीमेंट पर किया साइन, कापीराइट बेच दी
(नाम था नॉवेल का 'ठंडा-तूफ़ान'
छप के होंगे यही कोई डेढ़-एक सौ पेज

डबल क्राउन साइज के)
दस रोज़ सोचा, बीस रोज़ लिखा
महीने की मेहनत तीन सौ लाई!
क्या बुरा सौदा है?
जीते रहें हमारे श्रीमान् करुणानिधि ओसवाल
साहित्यकारों के दीनदयाल
प्रूफ़रीडरों के प्रणतपाल
नामी दूकान 'किताब कुंज' के कुंजीलाल
इनसे भाग कर जाऊँगा कहाँ मैं
गुन ही गाऊँगा, रहूँगा जहाँ मैं
वक़्त पर आते हैं काम
कवर पर छपने देते हैं नाम
मातम में—ख़ुशी में करते हैं याद
फुलाते रहते हैं देकर दाद
नयी-नयी ली है अभी ''हिन्दुस्तान फ़ोर्टीन''
सो उसमें यदा-कदा साथ बिठाते हैं
पान खिलाते हैं, गोल्ड फ़्लैक पिलाते हैं
मजुघोष प्यारे और क्या चाहिए बेटा तुमको???

मन करता है...

मन करता है :
नंगा होकर कुछ घंटों तक सागर-तट पर मैं खड़ा रहूँ
यों भी क्या कपड़ा मिलता है?
धनपतियों की ऐसी लीला!

मन करता है :
नंगा होकर दूँ आग लगा, जो पहन रखा है उसमें भी
फिर बनूँ दिगंबर बंभोला
नंगा होकर विषपान करूँ सागर-तट पर—
ओ कालकूट तू कहाँ गया?
ओ हालाहल तू कहाँ गया?
अमृत की बात नहीं पूछो,
विष तक का बूँद नहीं मिलता
देवता हुए निर्लज्ज, सभी को छिपा दिया।
कहते जाओ, उनसे माँगो
जो क्षीर उदधि में शेषनाग की शैया पर कर रहे शयन।
भंडार हमारा ख़ाली है :
भगवान सभी के मालिक हैं;
लाचारी है, कुछ भी हम तुमको दे न सके!

मन करता है :
मैं नंगा होकर चिल्लाऊँ
मैं ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाऊँ
यदि मरा न होगा सुन लेगा भगवान विष्णु सागरशायी

मन करता है :
मैं उस अगस्त्य-सा पी डालूँ सारे समुद्र को अंजलि से
उस अतल-वितल में तब मुझको
मुर्दा भगवान दिखाई दे
उस महामृतक को ले आऊँ फिर इस तट पर
अंत्येष्टि करूँ; लकड़ी तो बेहद महँगी है
इस बालू में ही दफ़ना दूँ

नंगा करके
निर्लज्ज देवता-गण, ले लेना तुम उसका वह भी पीतांबर
अनमोल रेशमी पीतांबर!
छिप-छिप उसको पहने सुरेश
छिप-छिप उसको पहने कुबेर
छिप-छिप उसको पहनो फिर तुम सब एक-एक कर बार-बार

मन करता है :
नंगा होकर मैं खड़ा रहूँ सागर-तट पर
कुछ घंटों तक क्या, जीवन-भर
नंगा होकर—
यों भी क्या कपड़ा मिलता है!

पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने

शुरू-शुरू कातिक में
निशा शेष ओस की बूँदियों से लदी हैं
अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ
पाकर परस प्रभाती किरणों का
मुखर हो उठेगा इनका अभिराम रूप...
टहलने निकला हूँ 'परमान' के किनारे-किनारे
बढ़ता जा रहा हूँ खेत की मेड़ों पर से, आगे
वापस मिला है अपना वह बचपन
कई युगों के बाद आज
करेगा मेरा स्वागत
शरद् का बाल रवि...
चमकता रहेगा घड़ी-आधी-घड़ी
पूर्वांचल प्रवाही 'परमान' की
द्रुत-विलंबित लहरों पर
और मेरे ये अनावृत चरण युगल
करते रहेंगे चहलक़दमी
सैकत पुलिन पर

छोड़ते जाएँगे सादी-हलकी छाप...
और फिर आएगी, हँसी मुझे अपने आप पर
उतर पड़ूँगा तत्क्षण पंकिल कछार में
बुलाएँगे अपनी ओर भारी खुरों के निशान
झुक जाएगा यह मस्तक अनायास
दुधारू भैसों की याद में...

यह लो, दूर कहीं शीशम की झुरमुट से
उड़ता आया है नीलकंठ
गुज़र जाएगा ऊपर-ही-ऊपर
कहाँ जाकर बैठेगा?
इधर पीछे जवान पाकड़ की फुनगी पर?
या कि, उस बूढ़े पीपल की बदरंग डाल पर?

या कि, उड़ता ही जाएगा
पहुँचेगा विष्णुपुर के बीचोंबीच
मंदिर की अँगनाई में मौलसिरी की
सघन पत्तियों वाली टहनियों की ओट में
हो जाएगा अदृश्य, करेगा वहीं आराम!
जाने भी दो,
आओ तुम मेरे साथ रत्नेश्वर
देखेंगे आज जी भर कर
उगते सूरज का अरुण-अरुण पूर्ण-बिम्ब
जाने कब से नहीं देखा था शिशु भास्कर
आओ रत्नेश्वर, कृतार्थ हों हमारे नेत्र!
देखना भई, जल्दी न करना
लौटना तो है ही
मगर यह कहाँ दिखता है रोज़-रोज़
सोते ही बिता देता हूँ शत-शत प्रभात
छूट-सा गया है जनपदों का स्पर्श
(हाय रे आंचलिक कथाकार!)
आज मगर उगते सूरज को
देर तक देखेंगे, जी भरकर देखेंगे
करेंगे अर्पित बहते जल का अर्घ
गुनगुनाएँगे गद्‌गद् होकर—
"ओं नमो भगवते भुवन-भास्कराय
"ओं नमो ज्योतिरीश्वराय
"ओं नमः सूर्याय सवित्रे...।"
देखना भई रत्नेश्वर, जल्दी न करना!
लौटेंगे इत्मीनान से
पछाड़ दिया है आज मेरे आस्तिक ने मेरे
नास्तिक को
साक्षी रहा तुम्हारे जैसा नौजवान 'पोस्ट-ग्रेजुएट'
मेरे इस 'डेविएशन' का!
नहीं? मैं झूठ कहता हूँ?
मुकर जाऊँ शायद कभी...

कहाँ! मैंने तो कभी झुकाया नहीं था यह
मस्तक!
कहाँ! मैंने तो कभी दिया नहीं था अर्घ
सूर्य को!
तो तुम रत्नेश्वर, मुसकुरा भर देना मेरी उस
मिथ्या पर...

सुबह-सुबह

सुबह-सुबह
तालाब के दो फेरे लगाए
सुबह-सुबह
रात्रि शेष की भीगी दूबों पर
नंगे पाँव चहलक़दमी की
सुबह-सुबह
हाथ-पैर ठिठुरे, सुन्न हुए
माघ की कड़ी सर्दी के मारे
सुबह-सुबह
अधसूखी पतइयों का कौड़ा तापा
आम के कच्चे पत्तों का
जलता, कड़ुवा कसैला सौरभ लिया
सुबह-सुबह
गँवई अलाव के निकट
घेरे में बैठने बतियाने का सुख लूटा
सुबह-सुबह
आंचलिक बोलियों का मिक्स्चर
कानों की इन कटोरियों में भरकर लौटा
सुबह-सुबह

बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर देखी
पकी-सुनहली फ़सलों की मुसकान
—बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैं जी भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की कोकिलकंठी तान
—बहुत दिनो के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर सूँघे
मौलसिरी के ढेर-ढेर-से ताज़े-टटके फूल
—बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैं जी भर छू पाया
अपनी गँवई पगडंडी की चंदनवर्णी धूल
—बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर
—बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनों के बाद
अबकी मैंने जी भर भोगे
गंध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श सब साथ-साथ इस भू पर
—बहुत दिनों के बाद

[1958]

सिके हुए दो भुट्टे

सिके हुए दो भुट्टे सामने आए
तबीयत खिल गई
ताज़ा स्वाद मिला दूधिया दानों का
तबीयत खिल गई
दाँतों की मौजूदगी का सुफल मिला
तबीयत खिल गई

अखिलेश ने अपनी मेहनत से
इन पौधों को उगाया था
वार्ड नम्बर 10 के पीछे की क्यारियों में
वार्ड नम्बर 10 के आगे की क्यारियों में
ढाई महीने पहले की अखिलेश की खेती
इन दिनों अब जाने किस-किस को पहुँचा रही है सुख
बीसियों जने आज अखिलेश को दुआ दे रहे हैं
सिके हुए भुट्टों का स्वाद ले रहे हैं
डिस्ट्रिक्ट जेल का चहारदीवारियों के अंदर
इन क्यारियों में अखिलेश अब सब्ज़ियाँ उगाएगा
वह किसी मौसम में इन्हें ख़ाली नहीं रहने देगा
श्रम का अपना सु-फल वो
जाने किस-किस को चखाएगा
वो अपना मन ताश और शतरंज में नहीं लगाएगा
हममें से जो बातूनी और कल्पना-प्रवण हैं
वे भी अलिखेश की फलित मेधा का लोहा मानते हैं—
मन ही मन प्रणत हैं वे अखिलेश की उद्यमशीलता के प्रति
पसीना-पसीना हो जाते हैं तरुण
लगाते-लगाते संपूर्ण क्रांति के नारे
फूल-फूल जाती हैं गर्दनों की नसें...
काश वे भी जेल के पिछवाड़े क्यारियों में
कुछ न कुछ उपजा के चले जाएँ
भले, दूसरे ही उनकी उपज के फल पाएँ!

[1975]

शालवनों के निबिड़ टापू में...

हलबी और हिन्दी का
हमारा दुभाषिया साथी
करने लगा उससे बातें

फूल बाबू के लिए चाहिए थी माचिस
पास की झोंपड़ी से वह ले आया साबित दियासलाई
क्षण भर बाद वापस भी दे आया
फिर वो पैसे माँगने लगा इशारे से
हमने थमा दी अठन्नी...
यानि, पचास पैसोंवाला नया सिक्का
ख़ुशी में चमकने लगीं माड़िया की आँखें
कहने लगा : ''जोहार! जोहार! जोहार सा ऽ ऽ ब...''

मुस्करा कर बतलाया हमारे दुभाषिए ने—
(इत्ती-सी देर में उन दोनों में हो गई थी ज़रा-मरा-सी बातें)
''दस-पंद्रह वर्ष पहले यह दिल्ली गया था
आदिवासी लोकनृत्यवाली अपनी पार्टी के साथ...''
मैंने जानना चाहा—
''पूछो, उन दिनों कौन था दिल्ली का राजा?''
नचाकर हथेलियाँ
अबूझ-सी पहेलियों में गुम हो गया बेचारा शबर-पुत्र!...
क्या कहे! क्या न कहे!
नाम ले कौन-सा!
कौन-सा नाम न ले!
इतनी लंबी अवधि में स्मृति-पटल पर से धुल-पुँछकर
ग़ायब हो चुके थे वे नाम...।
मैंने आख़िर सुझाई चंद संज्ञाएँ—
''नेहरू, राजेन्दर परसाद, राधा कृस्नन...
बोलो, कौन था उन दिनों दिल्ली का राजा...''
''मालूम नहीं अपने को...
अपन को नईं मालूम...''

डालकर भौंहों पर ज़ोर बोला माड़िया अधेड़
और अगले ही क्षण
हथेलियों पर उछालता वही सिक्का
उतर गया सड़क के नीचे
खो गया शालवनों के निबिड़ टापू में
माड़िया अधेड़।
बोला हमारा दुभाषिया मित्र—
(रविशंकर विश्वविद्यालय का एम.ए.)
"अपन इसके साथ दो रोज़ रह पाते!
काश! झोंपड़ियों वाली इसकी बस्ती तक
पहुँच पाते अपन
रातों वाली अड्डेबाज़ी में साथ देते इसका
साखू के पत्तोंवाले दोने में साथ-साथ पीते सल्फ़ी
चखते भुना हुआ गोश्त सुअर का साथ-साथ
फिर शायद खुलकर बातें करता यह हमसे...।"
और हम चारों जने
देखते रह गए शालवनों की उस पगडंडी की ओर
कम-से-कम दस मिनट तक देखते रहे
तैरती रहीं आरण्यक छवियाँ सूनी निगाहों में
लेकिन वह तो अब तक अलक्षित हो चुका था
जा चुका था गहरे निबिड़ अरण्य की अतल झील के अंदर।
...स्टार्ट हुई हमारी जीप
बैलाडीला वाली उसी सड़क पर
दंतेवाड़ा से 55 किलोमीटर आगे...

[1973]

बादल को घिरते देखा है

अमल धवलगिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

छोटी-बड़ी कई झीलें हैं
उनके श्यामल-नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिसतंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

ऋतु बसंत का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल बह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं
अगल-बग़ल स्वर्णाभ शिखर थे
एक-दूसरे से विरहित हो
अलग-अलग रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होती
निशाकाल के चिर-अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का
बंद हुआ क्रंदन, फिर उनमें
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर
प्रणय कलह छिड़ते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

दुर्गम बर्फानी घाटी में

शत-सहस्र फुट ऊँचाई पर
अलख नाभि से उठनेवाले
निज के ही उन्मादक परिमल
के पीछे धावित हो-होकर
तरल-तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है।

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गयी उसकी वह अलका
नहीं ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगाजल का,
ढूँढ़ा बहुत परंतु लगा क्या
मेघदूत का पता कहीं पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर,
जाने दो, वह कवि-कल्पित था
मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभ-चुंबी कैलाश शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

शत-शत निर्झर-निर्झरिणी-कल
मुखरित देवदास-कानन में,
शोणित-धवल भोजपत्रों से
छाई हुई कुटी के भीतर,
रंग-बिरंगे और सुगंधित
फूलों से कुंजल को साजे,
इंद्रनील की माला डाले
शंख-सरीखे सुघड़ गलों में
कानों में कुवलय लटकाए,
शतदल लाल कमल वेणी में,
रजत-रचित मणि-खचित कलामय

पानपात्र द्राक्षासव पूरित
रखे सामने अपने-अपने
लोहित चंदन की त्रिपटी पर,
नरम निदाग बाल कस्तूरी
मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखों वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों की
मृदुल मनोरम अँगुलियों को
वंशी पर फिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

[1939]

खुरदरे पैर

खुब गए
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर

धँस गए
कुसुम-कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठों वाले कुलिश-कठोर पैर

दे रहे थे गति
रबड़-विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फ़ासला
घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे!

देर तक टकराए
उन दिन इन आँखों से वे पैर
भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खुब गईं दूधिया निगाहों में
धँस गईं कुसुम-कोमल मन में

[1957]

चंदू, मैंने सपना देखा

चंदू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, भभुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू
चंदू, मैंने सपना देखा, खेल-कूद में हो बेकाबू

चंदू, मैंने सपना देखा, कल परसों ही छूट रहे हो
चंदू, मैंने सपना देखा, खूब पतंगें लूट रहे हो
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चंदू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलेण्डर

चंदू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलेण्डर
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चंदू, मैंने सपना देखा, भभुआ से पटना आए हो
चंदू, मैंने सपना देखा, मेरे लिए शहद लाए हो

चंदू, मैंने सपना देखा, फैल गया है सुयश तुम्हारा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम्हें जानता भारत सारा
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम तो बहुत बड़े डॉक्टर हो
चंदू, मैंने सपना देखा, अपनी ड्यूटी में तत्पर हो

चंदू, मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम
चंदू, मैंने सपना देखा, पुलिस-वैन में बैठे हो तुम
चंदू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
चंदू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलेण्डर

[1976]

सुन रहा हूँ

सुन रहा हूँ
पहर-भर से
अनुरणन—
मालवाही खच्चरों की घंटियों के
निरंतर यह
टिलिङ्-टिङ् टिङ्
टिङ् टिङा-टङ्-टाङ्!
सुन रहा हूँ अनुरणन!
और सब सोए हुए हैं
उमा, सोनू, बसंती, शेखर, कमल...

सभी तो सोए पड़े हैं!
अकेले मैं जग गया हूँ

सुन रहा हूँ
मालवाही खच्चरों की
घंटियों के अनुरणन
दूरगामी खच्चरों की
घंटियों के अनुरणन
श्रुति-मधुर है यह क्वणन
मुख्य पथ से दूर
वे पगडंडियाँ हैं
भारवाही खच्चरों के
खुरों से रौंदी हुई हैं

पहाड़ी ग्रामांचलों तक
ट्रक तो जाते नहीं हैं!
कौन उन तक माल पहुँचाए
तेल, चीनी, नमक, आटा—
गुड़ 'य' माचिस—मोमबत्ती
दवा-दारू या कि चावल-दाल
ईंधन, लोह-लक्कड़

साहबों की कुर्सियाँ तक
खच्चरों की पीठ पर ही लदी होतीं!

निकर या बुशशर्ट...
रेडीमेड सारे
शिशु-जनोचित
सभी कुछ तो
खच्चरों की पीठ पर ही लदा रहता
पहुँचता है दूर-दूर...
पहाड़ी ग्रामांचलों तक...
क्या पिठौरागढ़-भुवाली
रानीखेत--अल्मोड़ा...कहीं भी
पहुँचने की
निजी ही पगडंडियाँ हैं
खच्चरों के खुरों से रौंदी हुई
वे युगों तक
इतर साधारण जनों की
पथ-प्रदर्शक...

सुन रहा हूँ
खच्चरों की
घंटियों का अनुरणन...
नित्य ही सुनता रहूँगा...
रात्रि के अन्तिम प्रहर में...
भारवाही खच्चरों की
घंटियों के अनुरणन--
तालमय, क्रमबद्ध...

[10.5.85]

यह तुम थीं

कर गई चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थीं

सिकुड़ गई रग-रग
झुलस गया अंग-अंग
बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
उलंग असगुन-सा खड़ा रहा कचनार
अचानक उमँगी डालों की संधि में
छरहरी टहनी
पोर-पोर में गसे थे टूसे
यह तुम थीं

झुका रहा डालें फैलाकर
कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
ऊपर उठ आई भादों की तलइया
जुड़ा गया बौने की छाल का रेशा-रेशा
यह तुम थीं

[1957]

सिन्दूर तिलकित भाल

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल!
याद आता है तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल!
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज?
चाहिए किसको नहीं सहयोग?
चाहिए किसको नहीं सहवास?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराय यह उच्छ्वास?
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
जिसको डाल दे कोई कहीं भी
करेगा वह कभी कुछ न विरोध
करेगा वह कुछ नहीं अनुरोध
वेदना ही नहीं उसके पास
उठेगा फिर कहाँ से निःश्वास
मैं न साधारण, सचेतन जंतु
यहाँ हाँ-ना किन्तु और परंतु
यहाँ हर्ष-विषाद-चिन्ता-क्रोध
यहाँ है सुख-दुख का अवबोध
यहाँ है प्रत्यक्ष औ' अनुमान
यहाँ स्मृति-विस्मृति सभी के स्थान
तभी तो तुम याद आतीं प्राण,
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण!

याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भींगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहंगम को कभी थकने न देंगी पाँख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आतीं लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के

रूप-गुण-अनुसार ही रखे गए वे नाम
याद आते वेणुवन के नीलिमा के निलय अति अभिराम

धन्य वे जिनके मृदुलतम अंक
हुए थे मेरे लिए पर्यंक
धन्य वे जिनकी उपज के भाग
अन्न-पानी और भाजी-साग
फूल-फल औ' कंद-मूल अनेक विध मधु-मांस
विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दशमांश
ओह, यद्यपि पड़ गया हूँ दूर उनसे आज
हृदय से पर आ रही आवाज़
धन्य वे जन, वही धन्य समाज
यहाँ भी तो हूँ न मैं असहाय
यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय
किन्तु जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय!
मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक
मैं रहूँगा सामने (तस्वीर में) पर मूक
सांध्य नभ में पश्चिमांत-समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता हूँ, सुमुखि, उस काल
याद आता है तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल।

[1943]

इसलिए तू याद आए!

घोर निर्जनता न मुझको काट खाए
चाहता हूँ इसलिए तू याद आए!
गोद के शिशु से मुखर जीवन तुम्हारा
भुला दे इस पथिक का परिताप सारा।
उतर स्मृति-पट पर कि उर पर हाथ धरकर,
अमृतगर्भा उँगलियों से घाव भरकर,
मुक्त कर जा मुझे मर्मान्तक व्यथा से;
सुला जा हटकर हृदय लंबी कथा से;
पलातक ही सही, पर करबद्ध होकर
खड़ा हूँ सखि, आँसुओं से आँख धोकर।
आह, यदि इन धुली आँखों में तुम्हारी
नाचने लग जाए छवि कल्याणकारी,
फिर यहाँ से और आगे बढ़ सकूँगा;
हिमालय के तुग शिर पर चढ़ सकूँगा।
ये विकट पगडंडियाँ, ये झूलते पुल,
ये भयानक घाटियाँ, चिर-तुहिन-संकुल,
सामने यह मृत्यु की प्रत्यक्ष छाया,
निबट लूँगा सभी से हे योगमाया!
साथ हो केवल मधुर मुस्कान तेरी,
ले सकेगा कौन जग में जान मेरी?
दिवस हो दुर्दिवस, रातें हों अँधेरी,
परिस्थिति हो विषम, तो भी सजनि मेरी—
चाल धीमी कभी यह पड़ने न पाए;
चाहता हूँ इसलिए तू याद आए!

गगन में नक्षत्र, पवन में फूल देखा
तब हृदय में हँस पड़ी थी पत्रलेखा।
स्मरण आया मुझे अपनी सहचरी का—
विरह-वर्णन पढ़ा जब कादंबरी का!
अभिज्ञान शकुंतला का ध्यान आया,
तब वियोगिनि, मैं तुम्हें पहचान पाया।

गोद में शिशु, सजल नयने, कौन हो तुम?
दीखती हो स्वप्न में, क्यों मौन हो तुम?
महत्त्वाकांक्षा तुम्हें ही भूल करके
पूर्ण होगी, इसी से मैं फूल करके—
अकेले ही नाव खेने जा रहा था,
सफलता का श्रेय लेने जा रहा था।
किन्तु तेरे बिना, सखि, मधुकोश मेरा
हो चला है रिक्त, यह सब दोष मेरा।
पिला दो जीवन सुधा दो-एक मात्रा
स्मितमुखी, फिर कर सकूँ आरंभ यात्रा।
स्वप्न में ही सही, तुम फिर मुस्कुरा दो,
अमृत की दो बूँद इस मुँह में गिरा दो!
अनमनापन नहीं इस मन को सताए
चाहता हूँ इसलिए तू याद आए!

[1944]

ऋतु-संधि

प्रतीक्षा की
बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा नहीं, नभ यों ही रहा खल्वाट
आज है आषाढ़ वदि षष्ठी
उठा था ज़ोर का तूफ़ान
उसके बाद
सघन काली घन घटा से
हो रहा आच्छन्न यह आकाश
आज होगी, सजनि, वर्षा—हो रहा विश्वास
हो रही है अवनि पुलकित. ले रही निःश्वास
किन्तु अपने देश में तो
सुमुखि, वर्षा हुई होगी एक क्या, कै बार
गा रहे होंगे मुदित हो लोग ख़ूब मलार
भर गई होगी अरे वाह वाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरों में कुमुद पद्म मखान
आँख मूँदे कर रहा मैं ध्यान
लिखूँ क्या प्रेयसि, यहाँ का हाल
सामने ही बह रही भागीरथी, बस यही है कल्याण
जिस किसी भी भाँति गर्मी से बचे हैं प्राण
आज उमड़ी घन घटा को देख
मन यही करता कि मैं भी, प्रियतमे, उसका करूँ आह्वान
—कालिदास समान

सामने सरपट पड़ा मैदान
है न हरियाली किसी भी ओर
तृण-लता तरुहीन
नग्न प्रातर देख
उठ रहा सिर में बड़ा ही दर्द
हरा धुँधला या कि नीला—
आ रहा चश्मा न कोई काम
किन्तु मुझको हो रहा विश्वास

यहाँ भी बादल बरसने जा रहा है आज
अब न सिर में उठेगा फिर दर्द
लग रहा था आज प्रातःकाल पानी सर्द
गंगा नहाने वक़्त
आया ख्याल
हिमालय में गल रही है बर्फ़ :
आज होगा गीष्म ऋतु का अंत।

तुम जगीं, संसार जाए जाग!

सो गया तो स्वप्न में तारे मुझे कहने लगे
जागो, नयन खोलो, अजी दिन में जगे तो क्या जगे?
अकचका कर उठा, देखा, गगन में नक्षत्रगण
श्रांत श्यामल हृदय पर ज्यों ढलमलाते स्वेदकण
ओढ़ मणि-मुक्ता जड़ित नव नील चीनांशुक निशा
मानो विराट विधान की परिकल्पना में लीन थी
निबिड़ तम के खंड-सी अमराइयों में
और काले पहाड़ों में
एक ही बस भेद था
हिमानी-सी वे मुझे शीतल लगीं
ये मुझे रूखे लगे—
गजराज की काली कलूटी खुरदरी ज्यों पीठ हो
कि इतने में
दे गया सहसा दिखाई
द्वादशी का चाँद
क्षीण से भी क्षीणतर
पांडुरोगाक्रांत
उदय के प्रतिकूल
अस्त होने की दशा पर वह ले गया अविलंब मेरा ध्यान
सुख नहीं कुछ
'दुक्ख' है सब 'दुक्ख'
सब क्षणिक हैं, सभी नश्वर
बुद्ध की यह बात आई याद
चेहरा गंभीर
चिन्तनशील मानव की वही गांधार आकृति
हो गई आगे खड़ी;
अभय मुद्रा लगी मुझको बहुत ही माकूल उसकी
ठीक पूर्ण विराम-सी।
कि इतने में
झींगुरों का हो गया झंकार वह आरंभ
एकरस अविराम;

शिराएँ फड़कीं
धमनियों में हुआ फिर स्फूर्ति का संचार—
ज़िन्दगी को दे रहे संदेश ये झींगुर हज़ार-हज़ार
लगा बहने दक्षिणानिल
टिकोरों का आ रहा था मधुर मादक गंध
कि इतने में
भुरुगवा तारा उगा
मुझे भूली बात सी चट आ गई कुछ याद;
पास ही सोई पड़ी श्लथकुंतला
प्रेयसी की थपथपाई पीठ
जग गई तो दिखा कर तारे बचे दो चार
कहा मैंने पकड़ तब हाथ—
दो घड़ी का हमारा इनका रहा है साथ
हो रहे अब विदा, गा दो सुमुखि, एक विहाग
तुम जगीं, संसार जाए जाग
गुनगुनाने लगी वह, मैं उठ गया
ताल में घुसकर स्वयं ही तोड़कर
अधखिला अरविन्द लाने के लिए!

तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ

पहन शुक्र का कर्णफूल जब
पीछे की नीरव घड़ियों में
रजनी को निखरा पाता हूँ
नील गगन के नक्षत्रों को
जब अविरल बिखरा पाता हूँ
तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ

जब ऋतुओं के संधिकाल में
विकृति वायु से आहत होकर
आकुल क्षुब्ध और उद्वेलित
सागर की उत्ताल तरंगें
वसुधा की मेखला चूमतीं
चतुर नाविकों की नौकाएँ
जब उन पर निःशंक झूमतीं
तब उनका साहसमय जीवन
देख-देख मैं ललचाता हूँ
फिर तो तुम्हें भूल जाता हूँ

रंग-बिरंगे फूलों वाली
हरियाली से ढकी पहाड़ी
देवदारु की, सरो-चीड़ की
कोसों फैली हुई कतारें
उन ऊँचे हिममय शिखरों के
अद्भुत और विचित्र नज़ारे,
इन दृश्यों के बीच बैठ जब
कालिदास के पद गाता हूँ
तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ

जब अबोध शिशुओं से घिरकर
मुदित चित्त बैठा होता हूँ
बिना हेतु ही वे हँस पड़ते
मैं भी कुछ मुस्का देता हूँ

जब सहस्रदल कमलों का-सा
खिला हुआ उनका मुख-मंडल
तनिक ध्यान में भी लाता हूँ
तब मैं तुम्हें भूल जाता हूँ

[1941]

तन गई रीढ़

झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़

महसूस हुई कंधों को
पीछे से,
किसी नाक की सहज उष्ण निराकुल साँसें
तन गई रीढ़

कौंधी कहीं चितवन
रँग गए कहीं किसी के होंठ
निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर
तन गई रीढ़

गूँजी कहीं खिलखिलाहट
टूक-टूक होकर छितराया सन्नाटा
भर गए कर्णकुहर
तन गई रीढ़

आगे से आया
अलकों के तैलाक्त परिमल का झोंका
रग-रग में दौड़ गई बिजली
तन गई रीढ़

[1957]

यह दंतुरित मुस्कान

तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान
मृतक में भी डाल देगी जान
धूलि-धूसर तुम्हारे ये गात...
छोड़कर तालाब मेरी झोंपड़ी में खिल रहे जलजात
परस पाकर तुम्हारा ही प्राण,
पिघल कर जल बन गया होगा कठिन पाषाण
छू गया तुमसे कि झरने लग पड़े शेफालिका के फूल
बाँस था कि बबूल?
तुम मुझे पाए नहीं पहचान?
देखते ही रहोगे अनिमेष!
थक गए हो?
आँख लूँ मैं फेर?
क्या हुआ यदि हो सके परिचित न पहली बार?
यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज
मैं न सकता देख
मैं न पाता जान
तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान

धन्य तुम, माँ भी तुम्हारी धन्य!
चिर प्रवासी मैं इतर, मैं अन्य!
इस अतिथि से प्रिय तुम्हारा क्या रहा संपर्क
उँगलियाँ माँ की कराती रही हैं मधुपर्क
देखते तुम इधर कनखी मार
और होतीं जबकि आँखें चार
तब तुम्हारी दंतुरित मुस्कान
मुझे लगती बड़ी ही छविमान।

[1943]

नेवला

कौन नहीं लाड़ लड़ाना चाहता है इससे?
कौन नहीं गोद में उठा लेना चाहेगा इसको?
कौन नहीं ख़ुश होता है
इसकी आँखों में आँखें डालकर?
जंबू, जगूरा, मोतिया, दुलरुआ...
जाने कितने नाम मिल गए हैं इसे।
—हम सारे ही बंदियों का
बड़ा ही लाड़ला खिलौना है यह तरुण नेवला...

एक बार मोतिया ने
मेरी नाक की नोक में
गड़ा दिए थे अपने दाँत—
नहीं, वो गुस्से में नहीं था
वह लाड़ लड़ाने के मूड में था
लेकिन मैं तो उस दुपहरी में
लेटा था, झपकियाँ ले रहा था
मैं क़तई नहीं था खिलवाड़ के मूड में
सो, शैतान ने
अपने पैने दाँत गड़ा दिए थे
इस बूढ़े बंदर की नाक की नोक पर
बड़ा ही गुस्सा आया था...
ख़ैर, खरोंच-वरोंच नहीं पड़ी थी
पीछे, सुदामा से बतलाया तो उसने ठहाके मारे
फिर, देर तक मैं भी हँसता रहा था।
अख़लाक को मालूम हुआ
अखिलेश (पांडे) को मालूम हुआ
दीना और मुंद्रिका को मालूम हुआ
हँसते-हँसते सभी के पेटों में बल पड़ गए!
मैं ख़ुद भी हँसता रहा था देर तक
ख़ैर, खरोंच-वरोंच नहीं आई थी!

तू रह-रहकर कहाँ गुम हो जाता है?
हफ़्ता-हफ़्ता, दस-दस रोज़ गायब रहता है!
देख जमूरे, तेरी आवारगी बेहद खलती है हमें
अब तुझ पर पिटाई पड़ने ही वाली है मोतिया!
हाँ, बतलाए दे रहा हूँ
अब कोई तुझे माफ़ नहीं करेगा—
अच्छा, बतला तो भला!
कहाँ-कहाँ रहा पिछले दिनों?
जेलर के क्वार्टर में यानी आनंदी प्रसाद के घर में?
याकि मंजर बाबू के उस छोटे क्वार्टर में?
बोल बे, कहाँ रहा इतने दिन?
च्चुः च्चुः च्चुः च्चुः। आः आः आः आः
मोतिया, ओः ओः ओः
मोतिया! मोतिया!!
हाँ, इसी तरह बड़ों की बात मानते हैं—
इंसान तो क्या, हैवान तक निगाहें झुकाकर
क़रीब सरक आते हैं : हाँ, इसी तरह गर्दन झुका देते हैं
हाँ, इसी तरह!
बिलकुल इसी तरह—
कम से कम घंटा भर तो अभी आराम कर ले
इस बूढ़े बंदर की गोद में!

अख़लाक, अख़लाक!
ये देखो, मोतिया मेरी गोद में लेटा है
जाने कितना थका है आज!
सारे दिन जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर लगाता रहा है
अख़लाक, लाओ तो प्लेट में खीर
हाँ, देखना, चार-पाँच चम्मच से ज़्यादा न डालना!
क्या होगा सरऊ को ज़्यादा खीर चटाकर?
ओह, नहीं अख़लाक, मेरा मतलब यह नहीं था
जरी-सी इत्ती-सी खीर।
अमाँ, तुम तो भारी किरपिन हो यार...
थोड़ी-सी और डालो बेटे!

'जमूरे को पाकर'
अपनी पीली लुंगी सँभालते-सँभालते
मुस्कुराकर बोला अख़लाक :
'बेहद सेंटिमेंटल हो उठते हैं बाबा आप तो!'
और, इधर—
प्लेट में चम्मच की खटपट सुनते ही
मोतिया ने लगाई छलाँग!
खीर अभी बिलकुल गर्म है...
पतीला अभी बिलकुल गर्म है...
पतीला चूल्हे से उतारकर रख गया है रामबचन
ताज़ा-ताज़ा दूधिया भाप
हवा में घुल उठा है...

मोतिया भली-भाँति ट्रेंड है
गर्मा-गर्म खीर को वो अपनी चंगुल से
नीचे सीमेंट वाली फ़र्श पर बिखेर चुका है
चप-चप-चप-चप...शप-शप-शप-शप
चाट रहा है खीर मोतिया जल्दी-जल्दी में
जाने कैसी हड़बड़ी में है वो
जाने कितना भूखा है वो
चंगुल से बिखेर-बिखेर कर फ़र्श पर खीर
शपाशप-चपाचप चाट रहा है
उसकी यह फुर्ती देखते ही बनती है
रामबचन, सुदामा, मुंद्रिका, अखिलेश पांडे,
मोहनिया बाबू, नौशाद, अख़लाक,
दसई, हकेन्दू, कर्मा, सलीम—
मोतिया के इर्द-गिर्द आके जमा हो गए हैं
कमर में झटका देता हुआ सुदामा
और दो कलछी खीर निकाल ले आता है :
''ओह! ओह! च्च-च्च-च्च
बड़ा भुखयल मालूम पड़ता है जमूरा
खा रे खा! तेरे खातीर
बाबा आज खीर-पाटी दे रहे हैं

अरे, हमारे इस तीन नंबर वार्ड में
नित्तह खीर घुटती है शाम को तो...
ब्बा रे ब्बा, क्खा रे क्खा... जमूरा मेरे।''
सुदामा कहता है।
लगता है कई दिन बाद आज
जमूरे को खीर का 'सवाद' मिला है—
मगर, जमूरे, आज तेरे को सारी रात हम
मिसा-बंदी बना के रक्खेंगे
सबेरे चार-पाँच बजे रिहा करेंगे
क्या बाबा जमूरे को अभी भागने देंगे?
जो हुकुम होगा आपका, वही न करेंगे हम...

अब होली के दिन आ गए
शाम को पॉच बजे से ही मच्छरों का हमला शुरू हो जाता है
अलः सुबह तक उनकी कारस्तानी चलती रहती है
लेकिन मोतिया है कि इन मच्छरों से सुरक्षित है
अभी रात के दो बजेंगे—
मगर देखो तो शैतान किस क़दर
सुख की नींद सो रहा है
अख़लाक की मसहरी के अंदर
बेसुध-बेख़बर नींद खींच रहा है!
इसे क्या पर्वाह है इन साले मच्छरों की।
रात्रिशेष में, ठीक पाँच बजे, मोतिया बाहर निकल भागेगा
याकि आधा घंटा पहले ही
अपनी पतली थूथन घुसेड़कर मसहरी से सरकेगा
सलाखों की फाँक से बरामदे में पहुँचेगा
और फिर नींबू की छोटी झाड़ से आगे होगा
अखाड़े के क़रीब रातरानी के छाँटे-तराशे पौधे के पास
याकि बैंगन की क्यारियों के क़रीब
पाखाना-पेशाब से निबट लेगा
और, तब फिर, शुरू हो जाएगी जमूरे की दिनचर्या
हो सकता है, वो अगले दो-तीन दिनों तक
इस वार्ड के विशाल प्रांगण में कहीं नजर ही न आए।

मंजरबाबू के क्वार्टर में बचपन गुज़ार चुका है न!
मंजर साहब ने छोटी-छोटी ताजा मछलियाँ खिलाकर
बड़े जतन से पाला-पोसा था—
मोतिया के बीसियों नाज-नखरे झेले हैं मंजरबाबू ने
उन दिनों वो नए-नए बक्सर आए थे
अपना क्वॉटर नहीं था उनका
एक हम पेशा (सब-जेलर) सज्जन के साथ,
रहना पड़ता था बेचारे को। जैसे-तैसे वक़्त गुज़ार रहे थे
फेमिली को नहीं लाए थे मंजरबाबू
फिर एक दिन वो हमपेशा साहबान
अकेले में स्वर धीमा करके बोले थे :
देखिए साहब, हमारे बच्चे अभी छोटे हैं
होगा मोतिया आपका लाड़ला
लेकिन ख़तरनाक जानवर है न!
यह हमारे बच्चों की जूजी न काट खाए
नहीं साहब, इसे हटाइए यहाँ से!...
फिर हुआ यही विचार, दिनों की छुट्टी लेकर
मंजरबाबू सीधे नवादा पहुँचे
इकलौती बिटिया वाले सास-सुसर को मना-मुनूकर
अपनी बेगम साहिबा को बक्सर ले आए
यानी कि इस मोतिया की ख़ातिर
मंजर साहब उन हमपेशा साहबान के यहाँ से
ख़ुद ही हट गए! हाँ, जानवर तो जानवर ठहरा न!
गुफ़्तगू में मंजरबाबू ने यह सब बतलाया उस रोज़...
तो ज़ाहिर है कि मंजर साहब का क्वार्टर
मोतिया का वह अपना ही क्वार्टर है।

यह लीजिए
ठीक 3.22 पर, 'खन्न' की आवाज़ हुई
छोटी केनली का ढक्कन मीट-शेफ़ से नीचे गिरा है
ज़रूर ही मोतिया की करतूत है
दूध की गंध पाकर वह मीट-शेफ़ के माथे पर
पहुँच गया है लगा के छलाँग

ढक्कन खोलने की कोशिश में
केतली फर्श पर गिरा दी है
अख़लाक के 'सुपुत्र' ने
आख़िर आधा चम्मच दूध तो उसे मिला ही होगा
मगर फिर इत्ती रात मोतिया भागकर गया किधर?
देखूँ तो अपनी मसहरी से बाहर निकलकर...
(लालटेन को अंदर रखकर लिखना-पढ़ना होता है न!)
क्या पता, बिल्ली की कारगुज़ारी हो!
वो भी तो दूध की चटोरी होती है...
अकेले क्या मोतिया ही दूध का शौक़ीन है यहाँ?

ओह, अब मैं क्या बतलाऊँ आपसे!
सचमुच यह मोतिया ही था
फ़र्श पर केतली गिराकर वही भागा है—
हाँ, वो सचमुच ही ग़ायब है—
अख़लाक की मसहरी के कोने में
सिरहाने की तरफ़ दुबककर
अभी-अभी वो किस तरह सोया पड़ा था!
गुड़ी-मुड़ी होकर, दुबककर गहरी नींद में कैसे सोया था।
आवारा कहीं का...
अभी-अभी ग्यारह बजे, जब हम दूध ले रहे थे
अख़लाक ने पुलकित स्वरों में कहा था :
'बाबा, अब यह सारी रात इसी तरह सोएगा
कहीं नहीं जाएगा यहाँ से...
मैंने अख़लाक वाली लालटेन की बत्ती ख़ूब तेज़ कर दी
कि शायद मोतिया नींद की खुमारी में उठा हो
और पहलू बदलकर पायताने की तरफ़ जा लेटा हो
नहीं, वो सचमुच निकल गया है
अख़लाक मसहरी के अंदर अकेला है—
लो बेटे, तुम्हारा सुपुत्र चुपचाप खिसक गया न!
अब वो कई रोज़ बाद तुम्हारी सुध लेगा।
अरे वाह, वाह रे जमूरे, वाह!
तू वापस कब लौटा पाजी?

फिर दुबक गया अख़लाक के कंबल में!
क्यों न हो, चार बजे हैं तो रात नहीं भीगेगी?
बसंत-शेष जो ठहरा यह मौसम...
हवा में कैसी खुनकी है।
रात के चौथे पहर का ठंडा पवन—
'गुलाबी जाड़ा' तो भला कौन कहेगा इसे?
नहीं, नहीं, अब मैं फिर लालटेन की बत्ती तेज़ नहीं करूँगा.
तेरी पूँछ तो साफ़-साफ़ दिखाई दे गई है मुझे!
लेकिन, मोतिया, तू वापस कब लौटा?
अरे वाह, वाह रे जमूरे, वाह!
तेरे नेचर का पूरा-पूरा पता कहाँ लगा सका हूँ अब तक—
अख़लाक नौ महीनों से तुझे जानता है
मुझे तो यहाँ एक सौ दस ही रोज़ हुए हैं न?
मैं नहीं परिचित हो सका हूँ उतना तुझ से।
लेकिन हाँ, अब भाग मत जइयो सवेरे-सवेरे
आज तेरे को मैं मछली खिलाऊँगा
एक नहीं, दो दिलाऊँगा...हाँ, रे जमूरे, हाँ!
देखना, सुबह-सुबह भाग नहीं जाना अब!
खीर तो ख़ैर दुपहर बाद रोज़ पकती है
मगर आज भी मुंद्रिका मछलियाँ ज़रूर लाएगा
कल भी लाया था, वह अक्सर लाता है मछलियाँ

ताज़ा गोश्त का लाल टुकड़ा
मज़बूत सुतरी के छोर में बँधा है
फ़र्श से ढाई-तीन फुट ऊपर लटकाए
अख़लाक ने तो सुतरी ऊँचे थाम रक्खी है..
मोतिया बार-बार छलाँग लगा रहा है
लपक रहा है बार-बार गोश्त के टुकड़े की ओर
पूरी ताक़त लगाकर उछल रहा है
ग़ुस्से में चीख़ रहा है...किर्र...किर्र...किर्र।
उबाल खाकर कुलाँचे भर रहा है बार-बार
बीच-बीच में ज़रा-सी देर के लिए
बस, लम्हे-भर के लिए

पल भर के लिए यानी दस-पाँच सैकंड के लिए
मोतिया दम मार लेता है
फिर पूरी ताक़त लगाकर
लपकता है गोश्त के टुकड़े की ओर
मगर वो कामयाब कहाँ हुआ?
यह खेल क्या देर तक चलता रहेगा?
नहीं, अब ख़त्म होगा शो...
तमाशबीन अपनी-अपनी राह धरेंगे
मोतिया गोश्त का टुकड़ा, सुतरी सहित, लेकर
उधर रातरानी के झाड़ की ओट में जा बैठेगा
लीजिए, आख़िर उसने लपक ही लिया
पकड़ इतनी पक्की है कि वो ख़ुद ही टँग गया है
बड़ी मज़बूती से लटका है मोतिया अधर में
गोश्त के टुकड़े में गड़े हैं उसके दाँत
वो हवा में झूल रहा है
उस्ताद और जमूरे की यह नटबाज़ी
ढेर सारे लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींच चुकी है...

बीच में हमने यह भी देखा, कि
उछल-कूद में विफल होकर
वह अपने उस्ताद के कंधे पर चढ़ गया
(ठीक इसी तरह जामुन के पेड़ पर चढ़ता है गोह
छिपकली की टोह में, चुपचाप, लेकिन फुर्ती से)
कंधे से बॉह पर, या वापस फिर कमर पर
पोजीशन जमाकर उसने गर्दन लंबी कर ली
इस तरह बीच में ही गोश्त वाली सुतरी को
हड़प लेने की कोशिश कर रहा था मोतिया

आख़िर परेशान वो ग़रीब
फ़र्श पर दम लेने की ख़ातिर लेट गया
उछल-कूद के, अपने पैंतरे सहेजकर
(स्पंदनशून्य, चेष्टाविहीन उसकी वो भूमिका
किसी सिद्ध हठयोगी की शवाऽऽसन वाली मुद्रा थी क्या!)

हमने मान लिया : मोतिया थककर लस्त-पस्त हो चुका है...
अख़लाक, इस पर रहम करो
अब बेचारे को ज़्यादा न सताओ
गोश्त का टुकड़ा इसके हवाले कर दो
नहीं, नहीं, अब यह खेल ख़त्म हुआ...
फिर यक-ब-यक जमूरे ने ऊँची छलाँग लगा दी
'हाई जम्प' के अपने पिछले रिकार्ड तोड़ गया
मय सुतरी के, गोश्त का वो टुकड़ा उसने झटक लिया था
हमारे लाड़ले अख़लाक बाबू सौ फ़ीसदी धोखा खा गए थे
उस रोज़ उनका पालतू 'सुपुत्र' उनसे 20 निकला आख़िर।

[1976]

कालिदास

कालिदास, सच-सच बतलाना!
इंदुमती के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोए थे?
कालिदास, सच-सच बतलाना!

शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला में
घृतमिश्रित सूखी समिधा-सम
कामदेव जब भस्म हो गया
रति का क्रंदन सुन आँसू से
तुमने ही तो दृग धोए थे?
कालिदास, सच-सच बतलाना!
रति रोई या तुम रोये थे?

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घन घटा
विधुर यक्ष का मन जब उलटा
खड़े-खड़े तब हाथ जोड़कर
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
उसे बेचारे ने भेजा था
जिनके ही द्वारा संदेशा
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़ने वाले
कालिदास, सच-सच बतलाना
परपीड़ा से पूर-पूर हो
थक-थक कर औ' चूर-चूर हो
अमल-धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर, तुम कब तक सोए थे?
रोया यक्ष कि तुम रोए थे?
कालिदास, सच-सच बतलाना!

[1938]

भारतेन्दु

सरल स्वभाव सदैव, सुधीजन संकटमोचन
व्यंग्य बाण के धनी, रूढ़ि-राच्छसी निसूदन
अपने युग की कला और संस्कृति के लोचन
फूँक गए हो पुतले-पुतले में नव-जीवन
हो गए जन्म के सौ बरस, तउ अंततः नवीन हो!
सुरपुरवासी हरिचंद जू, परम प्रबुद्ध प्रवीन हो!

दोनों हाथ उलीच संपदा बने दलीदर
सिंह, तुम्हारी चर्चा सुन चिढ़ते थे गीदर
धनिक वंश में जनम लिया, कुल कलुख धो गए
निज करनी-कथनी के बल भारतेन्दु हो गए
जो कुछ भी जब तुमने कहा, कहा बूझकर जानकर!
प्रियवर, जनमन के बन गए, जन-जन को गुरु मानकर!

बाहर निकले तोड़ दुर्ग दरबारीपन का
हुआ नहीं परिताप कभी फूँके कंचन का
राजा थे, बन गए रंक दुख बाँट जगत का
रत्तीभर भी मोह न था झूठी इज़्ज़त का
चौंतीस साल की आयु पा, चिरजीवी तुम हो गए!
कर सदुपयोग धन-मान का, वर्ग-दोष निज धो गए!

अभिमानी के नगद दामाद, सुजन जन-प्यारे
दुष्टों को तो शर तुमने कस-कस के मारे
आफ़िसरों की नुक्ताचीनी करने वाले
जड़ न सका कोई भी तेरे मुँह पर ताले
तुम सत्य प्रकट करते रहे बिना झिझक बिना सोचना!
हमने सीखी अब तक नहीं तुलित तीव्र आलोचना।

सर्व-सधारन जनता थी आँखों का तारा
उच्चवर्ग तक सीमित था भारत न तुम्हारा
हिन्दी की है असली रीढ़ गँवारू बोली
यह उत्तम भावना तुम्हीं ने हम में घोली

बहुजन हित में ही दी लगा, तुमने निज प्रतिभा प्रखर!
हे सरल लोक साहित्य के निर्माता पंडित प्रवर!

हे जनकवि सिरमौरसहज भाषा लिखवइया
तुम्हें नहीं पहचान सकेंगे बाबू-भइया
तुम-सी ज़िन्दादिली कहाँ से वे लावेंगे
कहाँ तुम्हारी सूझ-बूझ वे सब पावेंगे
उनकी तो है बस एक रट : भाषा संस्कृतनिष्ठ हो!
तुम अनुक्रमणिका ही लिखो यदपि अति सुगम लिस्ट हो!

जिन पर तुम थूका करते थे साँझ-सकारे
उन्हें आजकल प्यार कर रहे प्रभू हमारे
भाव उन्हीं का, ढब उनका, उनकी ही बोली
दिल्ली के देवता फिरंगिन के हमजोली
सुनना ही पंद्रह साल तक अंग्रेज़ी बकवास है
तन भर आज़ाद हरिचंद जू, मन गोरन कौ दास है

कामनवेल्थी महाभँवर में फँसी बेचारी
बिलख रही है रह-रह भारतमाता प्यारी
यह अशोक का चक्र, इसे क्या देगा धोखा
एक-एक कर लेगी सबका लेखा जोखा
जब व्यक्ति-व्यक्ति के चित्त से मिट जाएगी दीनता
माँ हुलसेगी खुलकर तभी लख अपनी स्वाधीनता

दूइ सेर कंकड़ पिसता फी मन पिसान में
घुस बइठा है कलिजुग राशन को दुकान में
लगती है कंट्रोल कभी, फिर खुल जाती है
कपड़ों पर से पहली क़ीमत धुल जाती है
बनिए तो यही मना रहे; विश्व युद्ध फिर हो शुरू
फिर लखपति कोटीश्वर बने; कुछ चेहरे हों सुर्खरू!

गया यूनियन जैक, तिरंगे के दिन आए
चालाकों ने खद्दर के कपड़े बनवाए
टोप झुका टोपी की इज़्ज़त बढ़ी सौगुनी

माल मारती नेतन की औलाद औगुनी
हम जैसे तुक्कड़ राति-दिन कलम रगड़ि मर जायँगे
तो भी शायद ही पेट भर अन्न कदाचित पायँगे

वही रंग है वही ढंग है वही चाल है
वही सूझ है वही समझ है वही हाल है
बुद्धिवाद पर दंडनीति शासन करती है
मूर्च्छित हैं हल बैल और भूखी धरती है
इस आज़ादी का क्या करें बिना भूमि के खेतिहर?
हो असर भला किस बात का बिन बोनस मज़दूर पर?

लाटवाट का पता नहीं अब प्रेसिडेंट है
अपने ही बाबू भइया की गवर्मेंट है
चावल रुपये सेर, सेर ही भाजी भाजा
नगरी है अँधेर और चौपट है राजा
एक जोक वर्ग को छोड़ कर सब पर स्याही छा रही
दुर्दशा देखकर देश की याद तुम्हारी आ रही

बड़े-बड़े गुनमंत धँस रहे प्रगट पंक में
महाशंख अब बदल गए हैं हड़ा शंख में
प्रजातंत्र में बुरा हाल है काम काज का
निकल रहा है रोज जनाज़ा रामराज का
प्रिय भारतेन्दु बाबू कहो, चुप रहते किस भाँति तुम
हैं चले जा रहे सूखते बिना खिले ही जब कुसुम?

प्रभुपद पूजैं पहिरि-पहिरि जो उजली खादी
वे ही पा सकते स्वतंत्रता की परसादी
हम तो भल्हू देस दसा के पीछे पागल
महँगी—बाढ़—महामारी मइया के छागल
है शहर जहल-दामुल सरिस निपट नरक सम गाँव है
अनि कस्ट अन्न का वस्त्र का नहीं ठौर ना ठाँव है

पेट काट कर सूट-बूट की लाज निबाहैं
पिन से खोदैं दाँत, बचावैं कहीं निगाहैं
दिल दिमाग़ का सत निचोड़ कर होम कर रहे

पढ़ुआ बाबू दफ्तर में बेमौत मर रहे
अति महँगाई के कारण जीना जिन्हें हराम है
उनकी दुर्गत का क्या कहूँ जिनका मालिक राम है

संपादकगन बेबस करै गुमस्तागीरी
जदपि पेट भर खायँ न बस फाँकैं पनजीरी
बढ़ा-चढ़ा तउ अखबारन का कारबार है
पाँती-पाँती में पूँजीवादी प्रचार है
क्या तुमने सोचा था कभी; काले-गोरे प्रेसपति
भोले पाठक समुदाय की हर लेंगे मति और गति

अंडा देती है सिनेट की छत पर चींटी
ढूह ईंट-पत्थर की, कह लो यूनिवर्सीटी
तिमिर-तोम मे जूझ रहा मानव का पौधा
ज्ञान-दान भी आज बन गया कोरी सौदा
हे भारतेन्दु, तुम ही कहो, संकट को कैसे तरे?
औसत दर्जे के बाप को कुछ न सूझता क्या करे?

टके-टके बिक रहा जहाँ पर गीतकार है
बाकी सिरिफ सिनेमाघर में जहाँ प्यार है
कवि विरक्त बन फाँकि रहे चित चैतन चूरन
शिक्षक को भूखा रखता परमातम पूरन
अब वहाँ रोष है रज है, जहाँ नेह सरिता बही
लो-प्रेम जोगनी आजकल अन्न-जोगनी हो रही

दीन दुखी मैं लिए चार प्रानिन की चिन्ता
बेबस सुनता महाकाल की धा धा धिनता
रीते हाथों से कैसे मैं भगति जताऊँ
किस प्रकार मैं अपने हिय का दरद बताऊँ
लो आज तुम्हारी याद में लेता हूँ मैं यह सपथ
अपने को बेचूँगा नहीं चाहे दुख झेलूँ अकथ

मैं न अकेला, कोटि-कोटि हैं मुझ जैसे तो
सबको ही अपना-अपना दुख है वैसे तो
पर दुनिया को नरक नहीं रहने देंगे हम

कर परास्त छलियों को, अमृत छीनेंगे हम
सब परेशान हैं, तंग हैं, सभी आज नाराज हैं
हे भारतेन्दु तुम जान लो, विद्रोही सब आज हैं

जय फक्कड़ सिरताज, जयति हिन्दी निर्माता!
जय कवि-कुल गुरु! जयति जयति चेतना प्रदाता!
क्लेश और संघर्ष छोड़ दिखलावें क्या छवि—
दीन दुखी दुर्बल दरिद्र हम भारत के कवि!
जो बना निवेदन कर दिया, काँटे थे कुछ, थूल कुछ!
नीरस कवि ने अर्पित किए लो श्रद्धा के फूल कुछ!

रवि ठाकुर!

रुन झुन रुन झुन
सुने थे तुमने
भगवती वीणापाणि शारदा के नूपुर
विश्ववंद्य भारतीय महाकवि ठाकुर!

पाया था अनुपम प्रतिभा का अवदान
यहाँ से, वहाँ से,
जाने कहाँ-कहाँ से,
धन्य तुम पुरुषोत्तम!!
लाँघकर मरु, गिरि, जल और जंगल
युग-युग तक गुँजाते रहेंगे भूतल
तुम्हारे ये दिव्यगान।
चलता रहेगा अबाधित गति से
दिशा-विदिशा सभी को मुखरित करता हुआ
वृतांत के बंकिम पथ पर विचरता हुआ
तुम्हारा यह कालनेमि अद्भुत महायान।
हुए थे पैदा तुम
सुशिक्षित अभिजात धनाढ्य द्विज कुल में
सभी ओर सुख था
सभी ओर सुविधा
परिचर्या के लिए प्रतिपल तत्पर—
सेवक सेविकागण रहते थे घेरे
दिन में, रात में, साँझ में, सबेरे
नहीं खाई होगी अभाव की मार कभी
मालूम न पड़ा होगा संसार असार कभी
साधन थे प्रस्तुत, फिर न हुए क्यों तुम
अकर्मण्य, आलसी, विलासी, भू-भारमात्र?
अहे कनक-कमनीय गात्र!
कवि के रूप में हो गए विकसित कैसे तुम अचानक?
बाह्य आडंबर उतना भयानक!!
गला क्यों न घोट सका

तुम्हारे महामानव का?
कहाँ से मिली तुम्हें इतनी अनुभूतियाँ
पीड़ित मनुष्य के निम्नतम स्तर की?
बात यदि करते तुम केवल ऊपर की—
अपने उच्च वर्ग की, अपने आडंबर की—
तो भी क्या हानि थी!
तुम्हारा गुणगान मैं भला क्या करूँ
न उतना देखा है, न सुना है उतना
पैदा हुआ था मैं—
दीन-हीन अपठित किसी कृषक-कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि! मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का
हरा हुआ नहीं कि चरने को दौड़ते!!
जीवन गुज़रता प्रतिपल संघर्ष में!!
मुझको भी मिली है प्रतिभा की प्रसादी
मुझसे भी शोभित है प्रकृति का अंचल
पर न हुआ मान कभी!
किया न अनुमान कभी!
तुंगभद्र! महानाम!—
तुम्हारा यश-सागर असीम लहरा रहा
अग-जग में भू पर!!
तुम्हारी गुरुता का ध्वजपट
फ़हरा रहा हिमगिरि के ऊपर!!
मेरा क्षुद्र व्यक्तित्व
रुद्ध है, सीमित है—
आटा-दाल-नमक-लकड़ी के जुगाड़ में!
पत्नी और पुत्र में!
सेठ के हुकुम में!
क़लम ही मेरा हल है, कुदाल है!!
बहुत बुरा हाल है!!!
करूँ मैं किस वर्ग में गिनती अपनी!
लेखक ही बना रहूँ!

पकड़ लूँ वह पेशा—
बाप-दादा करते आए जो हमेशा?
नहीं, नहीं, ऐसा नहीं।
आशीष दो मुझको—मन मेरा स्थिर हो!!
नहीं लौटूँ, चीर चलूँ, कैसा भी तिमिर हो!!
प्रलोभन में पड़ कर बदलूँ नहीं रुख
रहूँ साथ सबके, भोगूँ साथ सुख-दुख।

गुरुदेव मेरे!
दाढ़ी यह तुम्हारी सन-सी सफ़ेद है—
चाचा करीम और तुममें क्या भेद है?
तुम भी शुकनास, वह भी शुकनास
(किन्तु तुम श्रीनिवास!)
अभी भी फुर्ती से कपड़ा वह बुनता है
सुनता हूँ, अब तक तुम भी रहे
बुनते किरणों की जाली!!
देखते-देखते समता के सपने
कर गए खतम खेल तुम अपने
सौंप गए हमको सारी विश्वभारती
आज नहीं तो कल उतारेंगे आरती
अभी तो अकिंचन है विकल है, जनगण दुर्लभ है अन्नकण
मैं भी अकिंचन मैं भी विकल हूँ
आवेश में आकर बहुत कुछ कह गया
पितामह, क्षमा करो!
मेरी यह धृष्टता, कटुता, उद्दंडता—
क्षमा करो, पितामह!!

रुन झुन रुन झुन सुने थे तुमने—
भगवती वीणापाणि शारदा के नूपुर!
विश्ववंद्य भारतीय महाकवि ठाकुर!!

[1941]

महाकवि निराला

झाँझ और घड़ियाल बजाते
मर्मज्ञों को ख़ूब खिझाते, ख़ूब लजाते
चरणामृत पीने का अभिनय करते धूर्त-पुजारी
जाने किस-किस राक्षस ने आरती अभी न उतारी
हे औढर औघड़ बंभोला
परम प्रबुद्ध महाकवि
हे ममतामय पिता, सनेही सखा
अकारण बंधु
सिद्ध आचार्य
वे ही तुमको पागल कहते जो हैं दुष्ट अनार्य
प्रगतिशील मानवता के हो सूझ-बूझ तुम
पाखंडों से रहे जूझ तुम
प्रपितामह तुम नए-नए पौधों के
तुम उपादान कारण मानस पौधों के
महामहिम, शुभमूर्ति, यशोधन
तुम से ही पाते आए हैं हम उद्‌बोधन
प्रतिभा की यह कली खिली है
तुम से ही चेतना मिली है
जय लोकोत्तर! जय युगद्रष्टा! कवि-कुलगुरु भीम ललाम!
जनयुग का यह रिक्त हस्त कवि सादर करता तुम्हें प्रणाम!

हाय रे हाय!
तुम्हारी चर्चा भी बन रही आज व्यवसाय
महाप्राण, जबरन तुमको गेरुआ पहनाकर
धूप-दीप-नैवेद्य सजाकर
हम दुनिया को ठगें, मगर धोखे में तुमको डाल नहीं सकते हैं
महाकाल के वज्र कंठ को फोड़-फाड़कर
गिरा तुम्हारी गूँज रही है :
    ''खुला भेद, विजयी कहाए हुए जो
    लहू दूसरों का पिए जा रहे हैं...''
क्या कारण है?

हँसते हो तुम खिल-खिल-खिल
खः खः खाह-खाह-खा
क्या कारण है?
रोते हो तुम बहा-बहाकर आँसू
बुक्का फाड़-फाड़कर
क्या कारण है?
बोल रहे हो बिड़-बिड़-बिड़-बिड़
उठा-उठा तर्जनी न जाने किसे शून्य में डाँट रहे हो?
फाड़-फाड़कर आँखें, भौंहें कुंचित करके
अँग्रेज़ी में, बंगला में, या संस्कृत में ललकार रहे हो
किस दानव को?
माँग रहे किससे हिसाब, कैफ़ियत तलब किससे करते हो?
—हँसते हो तुम उन मूर्खों पर
जो युग की गति के मुड़ने का स्वप्न देखते!
—रोते हो तुम
दीन, दुर्दशाग्रस्त जनों की दुख दुविधा-पर!
—डाँट रहे शोषक समाज को

बुद्धि विमल है, प्रखर चेतना
स्फीत धारणा-शक्ति
याद रहती बातें
उत्तर देते हो पत्रों के
पाँच सात दस बीस तीस चालीस रुपैया
आए दिन 'मनिआर्डर' भेजा करते हो
एक-एक कूपन सँभाल रक्खा है तुमने!

ओ जन-मन के सजग चितेरे*

हँसते-हँसते, बातें करते
कैसे हम चढ़ गए धड़ाधड़
बंबेश्वर के सुभग शिखर पर
मुन्ना रह-रह लगा ठोकने
तो टुनटुनिया पत्थर बोला—
हम तो हैं फ़ौलाद, समझना हमें न तुम मामूली पत्थर
नीचे है बुंदेलखंड की रत्न-प्रसविनी भूमि
शीश पर गगन तना है नील मुकुर-सा
नाहक नहीं हमें तुम छेड़ो...
फिर मुन्ना कैमरा खोलकर
उन चट्टानों पर बैठे हम दोनों की छवियाँ उतारता रहा देर तक

नीचे देखा :
तलहटियों में
छतों और खपरैलोंवाली
सादी-उजली लिपी-पुती दीवारोंवाली
सुंदर नगरी बिछी हुई है
उजले पालों वाली नौकाओं से शोभित
श्याम-सलिल सरोवर है बाँदा
नीलम की घाटी में उजला श्वेत कमल-कानन है बाँदा!

अपनी इन आँखों पर मुझको
मुश्किल से विश्वास हुआ था
मुँह से सहसा निकल पड़ा—
क्या सचमुच बाँदा इतना सुंदर हो सकता है
यू.पी. का वह पिछड़ा टाउन कहाँ हो गया ग़ायब सहसा
बाँदा नहीं, अरे, यह तो गंधर्व नगर है...

उतरे तो फिर वही शहर सामने आ गया!
अधकच्ची दीवारों वाली खपरैलों की ही बहार थी

---
* कवि-मित्र केदारनाथ अग्रवाल को संबोधित

सड़कें तो थीं तंग किन्तु जनता उदार थी
बरस रही थी मुस्कानों से विवश ग़रीबी
मुझे दिखाई पड़ी दुर्दशा ही चिरजीवी
ओ जन-मन के सजग चितेरे
साथ लगाए हम दोनों ने बाँदा के पच्चीसों फेरे
जनसंस्कृति का प्राणकेन्द्र पुस्तकागार वह
वयोवृद्ध मुंशीजी से जो मिला प्यार वह
केन नदी का जलप्रवाह, पोखर नवाब का
वृद्ध सूर्य के चंचल शिशु भास्वर छायानट
सांध्य घनों की सतरंगी छवियों का जमघट
रॉड ज्योति से भूरि-भूरि आलोकित स्टेशन
कहीं पास में भिखमंगों का चिर-अधिवेशन
काग़ज़ के फूलों पर ठिठकी हुई निगाहें
बसें छबीली, धूल भरी वे कच्ची राहें
द्वारपाल-सा जाने कब से नीम खड़ा था
ताऊजी थे बड़े कि जाने वही बड़ा था
नेह-छोह की देवी, ममता की वह मूरत
भूलूँगा मैं भला बहू जी की वह सूरत?
मुन्नू की मुस्कानों का प्यासा बेचारा
चिकना-काला मखमल का वह बटुआ प्यारा
जी, रमेश थे मुझे ले गए केन नहाने
भूल गया उस दिन दतुअन करना क्यों जाने
शिष्य तुम्हारे शब्द-शिकारी
तरुण-युगल इकबाल-मुरारी!
ऊँचे-ऊँचे उड़ती प्रतिभा थी कि परी थी
मेरी ख़ातिर उनमें कितनी ललक भरी थी
रह-रह मुझको याद आ रहे मुन्ना दोनों
तरुणाई के ताजा टाइप थे वे मानो

बाहर-भीतर के वे आँगन
फले पपीतों की वह बगिया
गोल बाँधकर सबका वह 'दुखमोचन' सुनना
कड़ी धूप, फिर बूँदाबाँदी

फिर शशि का बरसाना चाँदी...
चितकबरी चाँदनी नीम की छतनारी डालों से
छन-छनकर आती थी
आसमान था साफ़, टहलने निकल पड़े हम
मैं बोला : केदार, तुम्हारे बाल पक गए!
'चिन्ताओं की घनी भाफ में सीझे जाते हैं बेचारे'—
तुमने कहा, सुनो नागार्जुन,
दुख-दुविधा की प्रबल आँच में
जब दिमाग़ ही उबल रहा हो
तो बालों का कालापन क्या कम मखौल है?
ठिठक गया मैं, तुम्हें देखने लगा गौर से...
गौर-गेहुआँ मुखमंडल चाँदनी रात में चमक रहा था!
फैली-फैली आँखों में युग दमक रहा था
लगा सोचने—
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे बाँदावाले!
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे साहब काले!
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे आम मुवक्किल!
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे शासन की नाकों पर के तिल!
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे ज़िला-अदालत के वे हाकिम!
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे मात्र पेट के लिए बने हैं जो कि मुलाजिम
प्यारे भाई, मैंने तुमको पहचाना है
समझा-बूझा है, जाना है...
केन-कूल की काली मिट्टी, वह भी तुम हो!
कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो!
ग्रामवधू की दबी हुई कजरारी चितवन, वह भी तुम हो!
कुपित कृषक की टेढ़ी भौंहें, वह भी तुम हो
खड़ी-सुनहली फ़सलों की छवि-छटा निराली, वह भी तुम हो!
लाठी लेकर कालरात्रि में करता जो उनकी रखवाली,
वह भी तुम हो

जनगण-मन के जाग्रत शिल्पी
तुम धरती के पुत्र : गगन के तुम जामाता!
नक्षत्रों के स्वजन कुटुंबी, सगे बंधु तुम नद-नदियों के!

झरी ऋचा पर ऋचा तुम्हारे सबल कंठ से
स्वर-लहरी पर थिरक रही है युग की गंगा
अरे, तुम्हारी शब्दशक्ति ने बाँध लिया है
भुवनदीप कवि नेरूदा को
मैं बड़भागी, क्योंकि प्राप्त है मुझे तुम्हारा
निश्छल-निर्मल भाईचारा
मैं बड़भागी, तुम जैसे कल्याण मित्र का जिसे सहारा
मैं बड़भागी, क्यों चार दिन बुंदेलों के साथ रहा हूँ
मैं बड़भागी हूँ, बाँट दिया करते हो हर्ष-विषाद
बड़भागी हूँ, बार-बार करते रहते हो याद

[1956]

शैलेन्द्र के प्रति

गीतों के जादूगर का मैं छंदों से तर्पण करता हूँ।
अपने युग की व्यथा-कथा ही कड़ियों में ढलती जाती थी
जाने, कितना नेह भरा था, बाती थी जलती जाती थी
गीत तुम्हारे गूँज रहे हैं अब भी लाख-लाख कानों में
होंठ तुम्हारे फड़क रहे हैं छाया-छवि की मुस्कानों में
सच बतलाऊँ, तुम प्रतिभा के ज्योतिपुत्र थे, छाया क्या थी
भली भाँति देखा था मैंने, दिल ही दिल थे, काया क्या थी
जहाँ कहीं भी अंतर-मन से ऋतुओं की सरगम सुनते थे
ताज़ा कोमल शब्दों में तुम रेशम की जाली बुनते थे
जन-मन जब हुलसित होता था, वह थिरकन भी पढ़ते थे तुम
साथी थे, मज़दूर-पुत्र थे, झंडा लेकर बढ़ते थे तुम
युग की अनुगुंजित पीड़ा ही घोर घन-घटा सी गहराई
प्रिय भाई शैलेन्द्र, तुम्हारी पंक्ति-पंक्ति नभ में लहराई
तिकड़म अलग रही मुस्काती, ओह, तुम्हारे पास न आई
फ़िल्म-जगत की जटिल विषमता आख़िर तुमको रास न आई
ओ जन-जन के सजग चितेरे, जब-जब याद तुम्हारी आती
आँखें हो उठती हैं गीली, फटने-सी लगती है छाती
प्रिय साथी शैलेन्द्र! जुहू तट की वे बातें भूल न जाना
भूल न जाना, साथ बैठकर उस प्रकार लिखना-लिखवाना
इन दस वर्षों के सुख-दुख का भोग-भाग अर्पण करता हूँ।
गीतों के जादूगर का मैं छंदों से तर्पण करता हूँ।

[1977]

अच्छा किया, उठ गए हो दुष्ट!

हिलने न पाए बुनियाद
एक ठोस सत्य की...
इसीलिए अक्सर
दस-दस दफ़े
लिया तुमने झूठ का सहारा
हम कभी समझ ही नहीं पाए
फूलबाबू, तुम्हारी यह लीला!
लहरा रहा है चारों ओर
ऊब-घुटन-डाह-बेचैनी का समंदर
राग-द्वेष-लोभ-मोह-वासना का पारावार
तृप्ति और सुख की वैयक्तिक डोंगियों में बैठे
इत्मीनान का आनंद भोग रहे हैं मुट्ठी-भर लोग
उनकी ओर उठाकर तना हुआ हाथ
चीख़े तुम ऊँची आवाज़ में :
''चोट्टे हैं सुसरे!
''पाजी हैं सुसरे!
''गद्दार हैं साले!
''पकड़ो, पकड़ो, भागने न पाएँ!''
इस पर हम चार जने
लगे आपस में खुसर-पुसर करने...
एक ने कहा, ''वो देखो—
जाने कहाँ से लाया है स्लोगन उधार?
ख़ुदा ही लगाए इन बीट्निकों का बेड़ा पार
आख़िर क्या हो गया है रा.क. चौधरी को?
घर पे खेती-वेती है न?...''
इस पर दूसरा सिर हिलाके रह गया महज़
विस्फारित थीं बड़ी-बड़ी आँखें
जमे थे गालों के अंदर
मगही पान के बीड़े आठ, पूरे-के-पूरे
बोला लेकिन तीसरा :
''हाँ भई, यह तो बतला दो!

क्या होती है भूखी पीढ़ी?
यहाँ-वहाँ बड़ी तारीफ़ छपती है इनकी
अमरीका में छपते हैं फ़ोटो...
जाने कित्ते नखरे हैं इनके।''
अरे, अब इस पे मैं भला चुप रह जाता।
कहा एक के कंधे पे रख के हाथ :
''दर-अस्ल, हमीं ने बना दिया है इनको पागल
छेंक रखी है राह
न ख़ुद बढ़ेंगे आगे
न औलाद को ही मौक़ा देंगे
शासन और समाज और शिक्षा-केन्द्र
वाणिज्य और विज्ञान, मठ और मंदिर
आर्मी और खेती-बाड़ी
सरकारी और ग़ैर-सरकारी प्रतिष्ठान...
बँधे हैं हमारी रगों से विकास के सारे सूत्र
तिकड़म और चाटुकारिता
चुग़लख़ोरी और भीतरघात
यही सब तो चलता है यहाँ दिन-रात
सच कहूँ तो यही है सोसाइटी की बागडोर/बागखड़ी
दुख सत्य है, सुख है धोखाधड़ी
ठगी है शार्टकट कामयाबी का
फिर भी लेना हो जिन्हें धरम-ईमान का ठीका
बाँध के लँगोट, चरते हुए घास
तशरीफ़ ले जाएँ उधर,
कोई ऐतराज़ नहीं, स्वर्ग ही पहुँचे!
जानते हो मित्र?
हमारी ही पीढ़ी की ख़ुदगर्ज़ी और ढोंग से
फूट निकला था यह फूल
यानी रा.क. चौधरी!
हम मिथिला-निवासी
पुकारते थे उसे लाड़ वाले घरेलू नाम से
यानी हमारे लेखे वो था 'फूलबाबू'

पता है तुम्हें, क्या था उसका मूल नाम?
बतला दूँ? हाँ, बतला ही दूँ!
कानों पर ज़ोर तो पड़ेगा, मगर अच्छा लगेगा!
मणीन्द्र नारायण चौधरी!
कहो कित्ता अच्छा लगता है सुनने में?
मना किया था मैंने
आज से बारह साल पहले :
अच्छा भला नाम था मणीन्द्र
आ पड़ी थी ऐसी क्या ज़रूरत नए संबोधन की?
इस पे कहाँ कुछ बोला था फूलबाबू!
मुस्कान-भर उभर आई थी गालों पर...
तो यह तुम्हारा रा.क. चौधरी
यों ही नहीं पगलाया था
हॉ सा'ब, वो अदना पागल नहीं था
बड़ा ही विचित्र प्राणी था वो
बीसियों नौजवान मानते थे उसे अपना मसीहा
--अजी वाह, अजी वाह!
इसमें 'अति' की गंध आई आपको?
मालूम है जनाब,
'अजनबी' तक प्रणत थे उस 'जीनियस' के प्रति
तो ऐसा था वो राजकमल चौधरी!''
सुनके मेरा प्रवचन
झुका लिया सबने चुपचाप सिर
अलग हुए।
किसी ने नहीं देखा फिर किसी की तरफ़।
हॉं, परसों शाम की बात है
अरे हाँ, परसों शाम की ही बात है...
मैं पहुँचा था 'कामायनी'
(भाड़े का मामूली सा-मकान
वर्षों का तुम्हारा रैन-बसेरा
तुम्हीं ने दिया था उसे यह नाम
अपनी रुचि के मुताबिक़!)

मुक्ता और दिव्या और नीलू...
मिला हूँ बच्चों से परसों शाम!
पिता की छाया से वंचित
क्या होगा अब इन शिशुओं का?
सुना है, साझे की हमारी यह सरकार
कुछ सोच रही है इनके बारे में
शायद मासिक ग्रांट बाँध देगी
ख़रीद लेगी 'मुक्ति प्रसंग' की शेष प्रतियाँ
कुछ-न-कुछ ज़रूर करेंगे महामाया बाबू
मुझे विश्वास है, और मित्रों से सुना भी है
वो अवश्य देंगे ध्यान
मुक्ता और दिव्या और नीलू पर...
ओ स्नेही पिता, फ़िक्र न करना
अब तुम इन बच्चों की,
शशी सँभाल लेगी इनको!
सुना है तुम्हारे नाम पर उगाह रहे हैं लोग चंदा
बंगाल में, राजस्थान में, दिल्ली में, कलकत्ते में!
काश, उसमें से थोड़ी रकम
पहुँच पाती यहाँ तक
यानी मुक्ता-दिव्या-नीलू तक!
शायद पहुँच ही जाए!
न, नहीं पहुँचेगी शायद!!
जाने भी दो, फूलबाबू!
तुम ख़ुद ही ढेर-सा धन छोड़ गए हो
नहीं छोड़ गए हो?
छोड़ गए हो कि!
भली-भाँति मालूम है मुझको,
अभी ढेर-सा साहित्य है अप्रकाशित
कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, निबंध...
तैयार होंगी पुस्तकें दसियो...
सचमुच बहुत-कुछ छोड़ गए हो फूलबाबू,
फ़िक्र न करना ज़रा भी!

और भला, कहता है कौन कि तुम रहे नहीं!
आज ही सवेरे देखा है मैंने
भिखनापहाड़ी से निकलकर
जा रहे थे, स्टेडियम की तरफ़...
कहाँ गए थे, फूलबाबू?
राजेन्द्रनगर? बहादुरपुर? कंकड़बाग?
ओह, बच्चों के लिए आम लेने गए थे!
थी न यही बात?
18 रुपए के सौ ठो मिले थे!
ज़रूर लंगड़ा रहा होगा।
कच्चा लेकिन पकने को तैयार..
अच्छा किया, ले आए आम...
लगाएँगे भोग मुक्ता-दिव्या-नीलू!
अभी उस रोज़
दर्द की टीसों को चाँपते-चाँपते
उपाध्याय से कहा तुमने :
"माँ नाराज़ हो गई है
अब मैं महिसी नहीं लौटूँगा
वह नहीं चाहती है देखना मेरा चेहरा
बेहद रंज है माँ मुझ पर
अब बचूँगा नहीं, ना ही नहीं बचूँगा..."
तो क्या सचमुच इतना कुपित थी वो तुम पर?
माँ उग्रतारा—
ग्राम देवता महिसी वाली
तुम्हारी कुलदेवता...
इस क़दर रंज हो उठी थी तुम पर?
और इसी से भाग आए थे तुम?
नहीं फूलबाबू, यह भ्रम था
कोरा भ्रम था तुम्हारा!
माँ भला नाराज़ होगी अपने पुत्रों पर?
मैं क्या अपरिचित हूँ
पहचानता हूँ अच्छी तरह...

कृष्ण-लोहितवर्णा पाषाणी
चार बाँहोंवाली उग्रतारा देवी
मैंने भी चढ़ाए हैं उसके चरणों पर नील कमल
चढ़ाया है ताज़ा अच्छिन्न-जल
हासिल किया है उसका प्रसाद .
यह क्या, इतने दिनों बाद
सुनी है माँ की शिकायत
और. सो भी तुम्हारे मुँह से, फूलबाबू!
क्यों भला यूँ ही रंज हुई करुणामयी तारा
किया होगा आख़िर
कुछ तो अनाप-शनाप तुमने!
बतलाया उपाध्याय चंद्रमौलि ने :
माँ का ज़िक्र करते समय
बुरी तरह काँप रहे थे तुम्हारे होंठ
दहशत में डूबी थी धँसी-धँसी आँखें
समझ नहीं पाया मैं
ऐसी क्या बात हुई...
ज़रूर ही किया होगा तुमने
माँ के दरबार में थोड़ा कुछ व्यतिक्रम
बहरहाल, हमेशा के लिए अब तो
चुप हो गए फूलबाबू!
आमीन मणीन्द्र!
आमीन राजकमल!
अलविदा फूलबाबू!
अच्छा एक बात और...
फूलबाबू, यह सावित्री कौन थी?
'स्वरगधा' के पृष्ठों में
बार-बार आता है बेचारी का नाम!
कौन थी वो जिसने लिए बाँध
चार दिनों के लिए तुम्हारे प्राण?
कौन-सा था वो नगर—
''रूपालोकित पर्वतीय?

मसूरी तो नहीं?''
चुप क्यों हो गए?
बतलाओ न!
किसी से नहीं कहूँगा...
हाँ, सच, नहीं कहूँगा किसी से!
''मुहूर्त
ज्वलितं
श्रेयः
न च
धूमायितं
चिरम्...''
क्या मतलब इसका?
मतलब बतला दूँ!
तो सुनो, ओ हे अशरीरी प्रेत!
''बेहतर है घड़ी-आधी घड़ी दहकना,
लम्बी मुद्दत तक
ठीक नहीं छोड़ते रहना
धुआँ-ही-धुआँ, धुआँ-ही-धुआँ!''
यानी हमारे पूर्वजों को नफ़रत थी
बड़ी उम्र के निठल्लेपन से,
तुमने अच्छा किया, ख़ूब किया
झोंक दिया अपना जीवन
जल्दी-जल्दी ताबड़तोड़!
निर्धूम अग्नि के मध्य
तुम्हारा यह आत्मदाह
भूल नहीं पाऊँगा, आह!
रहते अब अगर और जीवित
फट जाता बीचोंबीच तुम्हारा माथा!
कित्ती बेचैनी थी, जाने अंदर क्या था!
हाँ, यदि तुम अब और
रह जाते दस-पंद्रह-बीस साल
तो इस सदी के सरहपा या डोंबीपा होते

चर्राता शौक जूतियों की माला पहनने का!
भले ही सिद्ध कहकर अलग से फुसफुसाते
मगर निकल जाते कन्नी काटकर
छोड़ देते तुम्हारी राह
दूर, बहुत दूर, भद्रजन!
हाँ, अब और जीते
तो, निश्चय ही मिलती तुम्हें भी कोई कुबेर गृहिणी...
दिलवाती मासिक वेतन
1500...2500...3500...
दिल्ली-बंबई-कलकत्ता-मद्रास
कोई भी महानगर
दिव्यधाम बनता तुम्हारा
लेकिन, तुम तो बीच में ही दगा दे गए हो दुष्ट!
अच्छा किया, उठ गए हो दुष्ट
ख़ूब रहा...
पा गए हो छुटकारा भवसागर के थपेड़ों से!
अपन तो भई, थेथर हैं...
निर्लज्ज, बेहया, कठजीव...
मरेंगे नहीं जल्दी...

[1967]

भारतीय जनकवि का प्रणाम

गोर्की मख़ीम!
श्रमशील जागरूक जग के पक्षधर असीम!!

घुल चुकी है तुम्हारी आशीष
एशियाई माहौल में
दहक उठा है तभी तो इस तरह वियतनाम!
अग्रज, तुम्हारी सौवीं बरसगाँठ पर
करता है भारतीय जनकवि तुमको प्रणाम!
गोर्की मख़ीम!
विपक्षों के लेखे कुलिश-कठोर, भीम!!
श्रमशील जागरूक जग के पक्षधर असीम!!
गोर्की मख़ीम!!

बढ़ गई दस गुनी बीस गुनी स्वर्णमृग-माया
पड़ती है बार-बार कालनेमि की छाया
हावी हुआ फिर से बुद्धि पर युक्तियों का विलास
करने लगे हैं अवचेतन मध्य फिर से निवास
—भगवान भोगनारायण!
चटाता है तभी तो कुबेर दुविधा का अफ़ीम...
क्या करें, बतलाओ गोर्की मख़ीम?
तुम्हीं ने कहा था :
"समझौता नहीं करेगा नए युग का नया मानव
"होगा वह निखिल विश्व का अधिस्वामी
"और, वह समग्रदर्शी पूर्ण-पुरुष होगा .."
तुम्हीं ने कहा था यह सर्वप्रथम हमसे!
मुखरित हुए थे सर्वप्रथम तुम्हारे ही कंठ से
अति गाढ़, परम स्निग्ध, प्रदीप्त आशावाद...
सीखा हमने तुम्हीं से सर्वप्रथम
बहुजन समाज के अंतस् की अभिव्यक्ति का कौशल..
भूख, प्यास, ठिठुरन—
तिरस्कार, ग्लानि, दुर्वचन—

पिटाई और प्रवंचन—
इस प्रकार भट्ठियों में गला था तुम्हारा बचपन
बिना बुलाए अपने-आप आ धमका था यौवन
बाध्यतामूलक घुमक्कड़ी ने भर दिया था रग-रग में कड़वापन
तभी तो दे गए हो तिक्ततम अनुभूतियों का रसायन
मात है करेला, मात है नीम!
गोर्की मख़ीम!!

अनुपम तुम स्वयंभू-शिरोमणि, विलक्षण कथाकार!
कोटि-कोटि हृदयों में कर गए हो स्फूर्ति का संचार!
दे गए हो सर्वहारा को मुक्ति का मंत्र!
कह गए हो, हासिल होगा कैसे सर्व-सिद्ध तंत्र
ओ हे, इस युग के द्वैपायन व्यास
गुंफित था तुम्हारी साँसों में
जनता की जीत का अटूट विश्वास
गोर्की मख़ीम!
श्रमशील विश्व के पक्षधर असीम!!

दरअसल 'सर्वहारा-गल्प' का
तुम्हीं से हुआ था श्रीगणेश
निकला था वह आदि-काव्य
तुम्हारी ही लेखनी की नोंक से
जुझारू श्रमिकों के अभियान का...
देखे उसी बुढ़िया ने पहले-पहल
अपने आस-पास, नई पीढ़ी के अंदर—
विश्व क्रांति, विश्व शांति, विश्व कल्याण!
'माँ' की प्रतिमा में तुम्हीं ने तो भरे थे प्राण!
गोर्की मख़ीम!
श्रमशील जागरूक जग के पक्षधर असीम!
विपक्षों के लेखे कुलिश-कठोर भीम!!
गोर्की मख़ीम!!

[20.02.1968]

उनको प्रणाम!

जो नहीं हो सके पूर्ण-काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम।

कुछ कुंठित औ' कुछ लक्ष्य-भ्रष्ट
जिनके अभिमंत्रित तीर हुए;
रण की समाप्ति के पहले ही
जो वीर रिक्त तूणीर हुए!
—उनको प्रणाम!
जो छोटी-सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि-पार;
मन की मन में ही रही, स्वयं
हो गए उसी में निराकार!
—उनको प्रणाम!
जो उच्च शिखर की ओर बढ़े
रह-रह नव-नव उत्साह भरे;
पर कुछ ने ले ली हिम-समाधि
कुछ असफल ही नीचे उतरे!
—उनको प्रणाम!
एकाकी और अकिंचन हो
जो भू-परिक्रमा को निकले;
हो गए पंगु, प्रति-पद जिनके
इतने अदृष्ट के दाव चले!
—उनको प्रणाम!
कृत-कृत नहीं जो हो पाए;
प्रत्युत फाँसी पर गए झूल
कुछ ही दिन बीते हैं, फिर भी
यह दुनिया जिनको गई भूल!
—उनको प्रणाम!

थी उग्र साधना, पर जिनका
जीवन नाटक दुःखांत हुआ;
था जन्म-काल में सिंह लग्न
पर कुसमय ही देहांत हुआ!
—उनको प्रणाम!

दृढ़ व्रत औ' दुर्दम साहस के
जो उदाहरण थे मूर्ति-मंत;
पर निरवधि बंदी जीवन ने
जिनकी धुन कर कर दिया अंत!
—उनको प्रणाम!

जिनकी सेवाएँ अतुलनीय
पर विज्ञापन से रहे दूर
प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके
कर दिए मनोरथ चूर-चूर।
—उनको प्रणाम!

लू-शुन

दुर्दम, अनमनीय, क्रांतदर्शी!
छद्म वाम पर निरंतर वाणवर्षी!
अ-कपट बंधु तुम विश्व-सर्वहारा के!
अक्षय उत्स तुम जन-चेतन-धारा के!
करो अंगीकार प्रणतियाँ हमारी...
सहज-सरल लू-शुन व्यंग-वज्रधारी...

"क़लम से काम लो गदा का, तमंचा का
ढीला न पड़े डोर प्रत्यंचा का
ज़हरीले साँपों पर दया नहीं करना
दुष्टों पर हमदर्दी के उसाँस नहीं भरना
कटखने कुत्तों पर रहमदिल न होना
भलमनसाहत में जान से हाथ मत धोना..."
इस तरह श्रमशील जनों को दे गए हो सीख.
क्यों कोई माँगे प्रभुओं से भद्रता की भीख!

[1981]

गांधी

कल मैंने तुमको फिर देखा
हे खर्वकाय, हे कृश शरीर,
हे महापुरुष, हे महावीर!
हाँ, लगभग ग्यारह साल बाद
कल मैंने तुमको फिर देखा

हे देव तुम्हारे दर्शन को
कल जुटे आदमी दश हज़ार!
उस संघशक्ति को श्रद्धा से
दोनों हाथों को जोड़ किया
तुमने ही पहले नमस्कार,
फिर नन्हीं-सी तर्जनी दिखा,
उद्वेल जलधि-सी जनता को
क्षण-भर में तुमने किया शांत!
घर हो, बाहर हो, कारा हो
लाचारी हो, बीमारी हो
सत्याग्रह की तैयारी हो
बंबई हो कि या लंदन हो
हो क्षुद्र गाँव या महानगर
कुछ भी हो, कैसी भी स्थिति हो,
तुम सुबह-शाम
उस परम पिता परमेश्वर की प्रार्थना नित्य—
करते आए हो जीवन भर,
दो-चार और दस-बीस जने
शामिल हो जाते हैं उसमें।
पर कभी-कभी दश-दश पंद्रह-पंद्रह हज़ार
यह सहस-शीश यह सहस-बाहु
जनता भी शामिल होती है।
कल मुझे लगा ऐसा कि, नहीं—
उस परमपिता परमेश्वर की प्रार्थना हेतु;
पर, दरस तुम्हारा पाने को
एकत्रित होती है जनता

उद्वेलित सागर-सी अधरी,
हे खर्वकाय, हे कृश शरीर!

जय रघुपति राघव राम राम!
बिस्मिल्ला हिर्रहमाने रहीम!
प्रार्थना सुनी, देखी नमाज़
फिर भी जनता ज्यों की त्यों थी
उद्वेलित सागर-सी अधीर!
तुम लगे बोलने तब जाकर वह हुई शांत!
देखा तुमको भर-आँख और भर-कान सुना,
कुछ तृप्ति हुई, कुछ शांति मिली;
बोले तुम केवल पाँच मिनट
चुप रहे आदमी दश हजार, बस पाँच मिनट!
तुम चले गए, जनता उठकर बन गई भीड़
उच्छृंखल सागर-सी अधीर
फिर छन भर में सब बिखर गए
कुछ इधर गए, कुछ उधर गए
देखा बिड़ला की कोठी का वह महाद्वार
तैनात वहाँ थी स्वयंसेवकों की क़तार
हे धनकुबेर के अतिथि...नहीं, हे जननायक!
कल तेरे दर्शन के निमित्त
थे जुटे आदमी दश हज़ार
इस दुखी देश के हे फकीर,
हे खर्वकाय, हे कृश शरीर!
जिस सागर का मैं एक बिन्दु
तुम उसकी तुंग तरंगों का करने आए हो प्रतिनिधित्व
यद्यपि ख़ुद भी तुम बिन्दुमात्र
यद्यपि ख़ुद भी तुम व्यक्तिमात्र
फिर भी लाखों जन से पाकर प्रेरणा बने हो महाप्राण
हे खर्वकाय, हे कृश शरीर!
संध्या को साढ़े सात बजे
कल तेरे दर्शन के निमित्त आदमी जुटे थे दश हज़ार
मैं उनमें था : तुमको देखा
फिर लगभग ग्यारह साल बाद।

पटनायक नागभूषण

मृत्युंजय महा-वीर
पटनायक नागभूषण
अक्षय-अमोघ ऊर्जा के
आकर तुम!
साहस के सागर तुम!
मृत्युंजय परम वीर
महाप्राण, कृशातिकृश शरीर!
पटनायक नागभूषण!!
अप्रतिम सखा हो तुम
विश्व सर्वहारा के!
प्रतीक हो सुबह की तारा के!
पटनायक नागभूषण—

''रह न जाए कोई निपीड़ित-प्रपीड़ित
''इस धराधाम में
''अन्न-वस्त्र-पूरित, हमेशा चौकस
''मगन रहें सभी निज-निज काम में
''सुलभ रहें सबको स्वगत श्रम-फल
''रह जाए कोई नहीं व्याकुल-विकल
''परस्पर सभी हो निश्छल
''पैशाचिक प्रतिस्पर्द्धा से दूर
''सभी करें शांति की उपासना भरपूर
—यही तो कुछ बातें थीं, जो तुम कहते रहे हो?
—इसीलिए क्या
तानाशाही ज़ोर-जुलुम सहते रहे हो?
भगतसिंह, आजाद चंद्रशेखर, बाघा जतीन...
उनकी अगली कड़ी नहीं हो क्या तुम?
इतिहास की काली-टेढ़ी गुफाओं के अंदर
गूँज-अनुगूँज भरी चैलेंज नहीं हो क्या तुम?

जभी तो वे घबराते हैं

अनसुनी करते हैं तुम्हारी रिहाई की अपीलें
तुम्हारी चर्चा तक से कतराते हैं
अमन के सफ़ेद कबूतरों की जगह
अपने आसमान में छोड़ते हैं वे
हज़ार-हज़ार लाख-लाख भूरी चीलें।
अनसुनी करते हैं तुम्हारी रिहाई की अपीलें
और क्या, यही तो वे कर सकते हैं?
अपनी लोकसभा के अंदर
अपनी पर-लोक सभा के अंदर
उनके 'श्रीमुख' कभी क्या थकते हैं!
उनके प्रचार यंत्र कभी क्या रुकते हैं!
मक्कार हैं वे, शत-प्रतिशत फ़रेबी,
बापू की समाधि के समक्ष नाहक ही झुकते हैं!
जभी तो हमें हँसी आती है...
जभी तो हमें रुलाई आती है...

साथी पटनायक नागभूषण
छै मंज़िली इमारत के अपने उस अस्पताली बेड पर
यानी AIMI वाली
शर-शय्या पर
निभृत-विजन-एकांत कोठरी में
तुम भी तो कभी-कभी
मुस्कुरा उठते हो!
आहें भरते हो
कभी-कभी!
शासक-जमात की बेवकूफ़ियों पर
सर्वहारा के भोलेपन पर!
साथी पटनायक नागभूषण
है न यही बात?

[01.05.1981]

वे और तुम

वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन,
उनींदी घड़ियों में चुभती है

वे हुलसित हैं
अपनी ही फ़सलों में डूब गए हैं
तुम हुलसित हो
चितकबरी चाँदनियों में खोए हो
उनको दुःख है
नए आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुमको दुःख है
काव्य-संकलन दीमक चाट रहे हैं

[1962]

गुलाबी चूड़ियाँ

प्राइवेट बस का ड्राइवर है तो क्या हुआ,
सात साल की बच्ची का पिता तो है!
सामने गीयर से ऊपर
हुक से लटका रखी हैं
काँच की चार चूड़ियाँ गुलाबी
बस की रफ़्तार के मुताबिक़
हिलती रहती हैं...
झुककर मैंने पूछ लिया
खा गया मानो झटका
अधेड़ उम्र का मुच्छड़ रोबीला चेहरा
आहिस्ते से बोलाः ''हाँ सा'ब
लाख कहता हूँ, नहीं मानती है मुनिया
टाँगे हुए है कई दिनों से
अपनी अमानत
यहाँ अब्बा की नज़रों के सामने
मैं भी सोचता हूँ
क्या बिगाड़ती हैं चूड़ियाँ
किस जुर्म पे हटा दूँ इनको यहाँ से?...''
और ड्राइवर ने एक नज़र मुझे देखा।
और मैंने एक नज़र उसको देखा
छलक रहा था दूधिया वात्सल्य बड़ी-बड़ी आँखों में
तरलता हावी थी सीधे-सादे प्रश्न पर
और अब वे निगाहें फिर से हो गईं सड़क की ओर
और मैंने झुककर कहा—
हाँ भाई, मैं भी पिता हूँ
वो तो बस यूँ ही पूछ लिया आपसे
वर्ना ये किसको नहीं भाएँगी?
नन्हीं कलाइयों की गुलाबी चूड़ियाँ!

देखना ओ गंगा मइया

चंद पैसे
दो-एक दुअन्नी-इकन्नी
कानपुर-बंबई की अपनी कमाई में से
डाल गए हैं श्रद्धालु गंगा मइया के नाम
पुल पर से गुज़र चुकी है ट्रेन
नीचे प्रवहमान उथली-छिछली धार में
फुर्ती से खोज रहे पैसे
मलाहों के नंग-धड़ंग छोकरे
दो-दो पैर
हाथ दो-दो
प्रवाह में खिसकती रेत की ले रहे टोह
बहुधा-अवतरित चतुर्भुज नारायण ओह
खोज रहे पानी में जाने कौस्तुभ मणि!
बीड़ी पिएँगे...
आम चूसेंगे...
या कि मलेंगे देह में साबुन की सुगंधित टिकिया
लगाएँगे सर में चमेली का तेल
या कि हम-उम्र छोकरी को टिकली ला देंगे
पसंद करे शायद वह मगही पान का टकही बीड़ा
देखना ओ गंगा मइया!
निराश न करना इन नंग-धड़ंग चतुर्भुजों को!
कहते हैं निकली थीं कभी तुम
बड़े चतुर्भुज के चरणों में निवेदित अर्घ-जल से
बड़े होंगे तो छोटे चतुर्भुज भी चलाएँगे चप्पू
पुष्ट होगा प्रवाह तुम्हारा इनके भी श्रम-स्वेद-जल से
मगर अभी इनको निराश न करना
देखना ओ गंगा मइया!

अकाल और उसके बाद

कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर-भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद

[1952]

पैने दाँतोंवाली

धूप में पसरकर लेटी है
मोटी-तगड़ी, अधेड़, मादा सूअर···

जमना-किनारे
मख़मली दूबों पर
पूस की गुनगुनी धूप में
पसरकर लेटी है
यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है
भरे-पूरे बारह थनोंवाली!

लेकिन अभी इस वक़्त
छौनों को पिला रही है दूध
मन-मिज़ाज ठीक है
कर रही है आराम
अखरती नहीं है भरे-पूरे थनों की खींच-तान
दुधमुँहे छौनों की रग-रग में
मचल रही है आख़िर माँ की ही तो जान!

जमना-किनारे
मख़मली दूबों पर
पसरकर लेटी है
यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है!
पैने दाँतोंवाली···

[1973]

दूर बसे उन नक्षत्रों पर

दूर बसे उन नक्षत्रों पर
टहल-बूल कर
मानव वापस आ जाएँगे
ग्रह-उपग्रह अ-विजित न रहेंगे
अंतरिक्ष के उद्यानों में
निर्भय-निरांतक मानव-शिशु
निशि-दिन मुक्त-विहार करेंगे

जन्म-जन्म के अभिशापों से
त्रिशंकुओं को मुक्ति मिलेगी
सौ-सौ विश्वामित्र बनेंगे
नई सृष्टि के नए विधाता
कमल, कुमुद, सेवंती, पाटल
चंपक, बेला, गंधराज, गेंदा, परजाता—
हर मौसम के फूल खिलेंगे, हर मौसम में
दिव्य धाम शोभित होंगे तब
दूर बसे नक्षत्रों पर

सच होगा सपना तब कवि-गुरु
कालिदास का
"आँसू होंगे, सुख के होंगे,
दुख के आँसू कहीं न होंगे
सारी उम्र जवानी होगी
छेड़छाड़ होंगे प्रियतम के
और प्रिया के
वर्ना यों तो जनजीवन में कहीं
कलह का नाम न होगा
सबके सब धनपति ही होंगे…"
लगता है, अब कालिदास का यक्ष
चाँद को छू आया है
साथ गई थी प्रिया यक्षिणी…

अंतरिक्ष-नाविक नव दंपति
मानवता की मानस-प्रतिमा के वे युग्मक
लिए गोद में घन-कुरंग शिशु
उज्जयिनि के महाकाल की
परिक्रमा करने आए हैं!

दूर बसे उन नक्षत्रों से
ज्योतिरीश्वरी नभ गंगा के
चल पुलिनों से
जाने वे क्या-क्या लाए हैं!!

[1960]

सरकाऊ सीढ़ियाँ

विद्युत्-अभियंत्रित सरकाऊ सीढ़ियाँ
चढ़ नहीं पा रहीं पुरानी पीढ़ियाँ
उतर नहीं पा रहीं पुरानी पीढ़ियाँ
खौफ़नाक लगती हैं सरकाऊ सीढ़ियाँ
दे सकतीं धोखा सरकाऊ सीढ़ियाँ

चकित-भ्रमित खड़ा हूँ
प्रौढ़ हूँ, बड़ा हूँ
दसियों-बीसियों
चढ़ रहे, उतर रहे
उत्सुक ग्रामीण तरुण
चपल-तरल बालिकाएँ
वो देखो, वो देखो, चढ़ गए कैसे
वो देखो, वो देखो, उतर गए कैसे
सरकाऊ सीढ़ियाँ!

यह लो, यह लो!
मैं भी चढ़ता हूँ सरकाऊ सीढ़ियाँ
बच गया हूँ डिगते-डिगते
यह लो, यह लो, हँस पड़े लोग
ले आईं ऊपर मुझे भी आख़िर
विद्युत्-अभियंत्रित सरकाऊ सीढ़ियाँ,
नाहक ही सहमा, नाहक ही ठिठका
कितनी सरल हैं
त्वरित हैं, तरल हैं
विद्युत्-अभियंत्रित सरकाऊ सीढ़ियाँ

सवेरे-सवेरे बतला तो दिया था
हर्ष ने, विमल ने...
"बाबा, देखने की चीज़ है
बड़ा ही मज़ा आएगा आपको!"
और, सचमुच ख़ूब मज़ा आया...

फिर तो यूँ ही चार-चार बार
चढ़ा मैं, उतरा मैं
सरकाऊ सीढ़ियाँ
भड़काऊ सीढ़ियाँ

ऑटोमेशन-द्वेषी आदिमानव-सुलभ गुस्सा
तोड़ दे न रीढ़ कहीं
इन सरकाऊ सीढ़ियों की
डाल दे न कहीं चुपचाप पेट्रोल का फाहा
इलेक्ट्रिक प्लांट की कुक्षि के अंदर
उधर, पिछवाड़े से होकर प्रविष्ट, अलक्षित...
अंग-अंग में दौड़ गई है सिहरन
मनाता हूँ ख़ैर मन ही मन
विद्युत्-अभियंत्रित संसरणशील
इन सोपान पंक्तियों का...

[11.01.1969]

वो तो परमेसुर के अउतार रहे...

यह एक अजीब सनक थी—
वो अपने बारे में
ऐसी कोई बात किसी को
बताते नहीं थे...
रैदास बिरादरी की
नब्बे-वर्षीय उस बुढ़िया ने कहा था—
हजूर, वो तो परमेसुर के
अउतार रहे...हमरे नाना की
लाश को नइ-नकोर चादर में
लपेट के अकेले गंगा-किनारे ले गए
अउर धार में बहा दिया...
हजूर, तुमसे का बतलाऊँ—
वो तो देउता रहे...
हम अउर भी कई बातें बतलाते
मगर अब लोग यकीन नहीं करेंगे—
अपने लिए परोसी थाली
भिखारी को खिला देते थे
बड़े परमेसुरऽऽ ..
उनके घर का कोई नहीं जानता...
और वो बुढ़िया फिर से
अपनी हथेली की खैनी मलने लगी...

यह थे पंडित गिरिजाशंकर
ठेठ अवधिया किसान...
किसी को बिच्छू काटे तो आप
फूटी धुआँही लालटेन लेकर
फौरन ओझा-गुनी को
जाकर जगाते थे, दो बजे रात
जेठ की उस गर्मी में
गाँव-बस्ती के कुएँ तक सोए रहते थे...
—आपका नाम था गिरजा पंडित

चमार को कोई रविदास कहके
नहीं बुलाता था
फिर भी वह युग था
आपसी एका का
इन दिनों की सद्भाव यात्रा
बिलकुल नक़ली
एकदम फीकी लगती है
बोलो कि नहीं...
बोलो कि हाँऽऽऽ...

[24.1.94]

घिन तो नहीं आती है?

पूरी स्पीड में है ट्राम
खाती है दचके पे दचका
सटता है बदन से बदन—
पसीने से लथपथ।
छूती है निगाहों को
कत्थई दाँतों की मोटी मुस्कान
बेतरतीब मूँछों की थिरकन
सच-सच बतलाओ
घिन तो नहीं आती है?
जी तो नहीं कुढ़ता है?

कुली-मज़दूर हैं
बोझा ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
धूल-धुआँ-भाफ से पड़ता है साबक़ा
थके-माँदे जहाँ तहाँ हो जाते हैं ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन
आकर ट्राम के अंदर पिछले डब्बे में
बैठ गए हैं इधर-उधर तुमसे सटकर
आपस की उनकी बतकही
सच-सच बतलाओ,
नाग़वार तो नहीं लगती है?
जी तो नहीं कुढ़ता है?
घिन तो नहीं आती है?

दूध-सा धुला सादा लिबास है तुम्हारा
निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने
बैठना था पंखे के नीचे, अगले डब्बे में
ये तो बस इसी तरह
लगाएँगे ठहाके, सुरती फाँकेंगे
भरे मुँह बातें करेंगे अपने देस-कोस की
सच-सच बतलाओ

अखरती तो नहीं इनकी सोहबत?
जी तो नहीं कुढ़ता है?
घिन तो नहीं आती है?

खटमल

उमड़ उमड़ आए खटमल
मैं जागा सारी रात
बिस्तर क्या था, जंगल था,
मैं भागा सारी रात
ख़ून खींचता रहा रगों से
आगा सारी रात
अस्पताल में यों हम बैठे
नागा सारी रात

अभी-अभी मारा, फिर कैसे
निकला यह पाताल से
तरुण गुरिल्ला मात खा गए
शिशु खटमल की चाल से
रात्रि-जागरण-दिन की निद्रा
चिपके मेरे भाल से
यम की नानी डरती होगी
खटमल के कंकाल से

निकल आया फिर कहाँ से
खटमलों का यह हजूम
मैं ज़रा जाता हूँ बाहर
मैं ज़रा आता हूँ घूम
रक्त बीजों की फ़सल को
मौत क्या सकती है चूम
मगर बाहर मच्छरों ने भी मचा रक्खी है धूम

हम भी भागे, छिपकलियाँ भी भागीं सारी रात
हम भी जागे, छिपकलियाँ भी जागीं सारी रात

जीत गई छिपकलियाँ, लेकिन हमने मानी हार
अपने बूते सौ पचास भी मच्छर सके न मार

जीत गईं छिपकलियाँ, लेकिन हमने मानी हार

चौराहे के उस नुक्कड़ पर

चौराहे के उस नुक्कड़ पर
काँटों का बिस्तरा बिछाकर
सोया साधू दाढ़ी वाला
लोग तमाशा देख रहे हैं
अपनी धुन में आते-जाते।
दिन के दस बजने वाले हैं
वक़्त हो गया है दफ़्तर का
सबके पैरों में फुर्ती है
लेकिन यह आ गया कहाँ से!
काँटों पर नंगा सोया है
ठिठक गया मैं लगा देखने
उस औघड़ बाबा के करतब
नेत्र बंद थे बदन अडिग था
शर शय्या पर चित लेटा था।
दर्शक पैसे फेंक रहे थे

सेठों की गलियों का नुक्कड़
काँटों पर लेटा है फक्कड़
चमक रहे पैसे दो पैसे
और पाँच पैसे दस पैसे
जैसी श्रद्धा सिक्के वैसे
निकल रहे हैं जैसे तैसे
काँटों पर सोया है कैसे
नागफनी पर गिरगिट जैसे

श्रद्धा का तिकड़म से नाता
जय हे भिक्षुक जय हे दाता
पियो संत हुगली का पानी
पैसा सच है दुनिया फ़ानी

चौथी पीढ़ी का प्रतिनिधि

यहाँ, गढ़वाल में,
कोटद्वार-पौड़ीवाली सड़क पर
ऊपर चक्करदार मोड़ के निकट

मकई के मोटे टिक्कड़ को
सतृष्ण नज़रों से देखता रहेगा अभी
इस चालू मार्ग पर
गिट्टियाँ बिछाने वाली मज़दूरिन माँ
अभी एक बजे आएगी
पसीने से लथपथ
निकटवर्ती झरने में
हाथ-मुँह धोएगी
जूड़ा बाँधेगी फिर से

और तब
शिशु को चूमकर
पास बैठा लेगी
मकई के टिक्कड़ से तनिक-सा
तोड़कर
बच्चे के मुँह में डालेगी

उसे गोद में लेकर
उसकी आँखों में झाँकेगी
पुतलियों के अंदर
अपनी परछाई देखेगी
पूछेगी मुन्ना से;
मेरी पुतलियों में देख तो, क्या है!
वो हँसने लगेगा...
माँ की गर्दन को बाँहों में ले लेगा

तब, उन क्षणों में
शिशु की स्वच्छ पुतलियों में

बस, माँ ही माँ प्रतिबिम्बित रहेगी…

दो-चार पलों के लिए
सामने वाला टिक्कड़
यों ही धरा रहेगा…
हरी मिर्च नमकवाली चटनी
अलग ही धरी होगी
चौथी पीढ़ी का हमारा प्रतिनिधि
बछेंद्रीपाल का भतीजा हो सकता है!

[21.3.85]

जया

छोटे-छोटे मोती-जैसे दाँतों की किरणें बिखरेकर
नील कमल की कलियों जैसी आँखों में भर
अनुनय सादर
पहले : पीछे शासक-सी तर्जनी उठाकर
इंगित करती : नहीं तुम्हें मैं जाने दूँगी
चार साल की चपल-चतुर वह बहरी-गूँगी
कितनी सुंदर नयनाभिराम
उस लड़की का है जया नाम

एक खिलौना
अथवा कोई गगन बिहारी
मुझे ज़रूर समझती होगी वह बेचारी
क्योंकि मैं उसे छू सकता हूँ
और गुदगुदा भी सकता हूँ
कभी-कभी तो
जी भर उसका मन बहलाकर
स्नेह सुधा में कई-कई घंटे नहलाकर
उसे तृप्त कर देता हूँ मैं
अपना रस्ता लेता हूँ मैं
फिर वह कृतज्ञ-सी हाथ जोड़
छन भर बचपन को परे छोड़
कर लेती है मुझको प्रणाम
उस लड़की का है जया नाम

वह बोल नहीं सकती
लेकिन उसकी भी अपनी भाषा है
काफ़ी है सूझ-समझ उसमें, सुख है, दुःख है, अभिलाषा है
माँ-बाप ग़रीब, न कर सकते कुछ प्रतीकार बहरापन का
सोचा होगा, पकड़ा देंगे, कोई पथ जीवन-यापन का
बन सकती है वह चित्रकार
ले सकती है वह नाच सीख
जिससे न किसी पर पड़े भार

जिससे न माँगनी पड़े भीख
लेकिन यह तो बस सपना है
चलता भी कुछ बस अपना है?
कैसा असह्य, कितना जर्जर
यह मध्यवर्ग का निचला स्तर।
स्कूली जीवन के साधारण मास्टर का हो किसमें लेखा?
मैंने झाँका तो यह देखा—
बाहर सफ़ेद, अंदर धुँधला
क्या कर सकता वह बाप भला
बहरी-गूँगी उस बच्ची की शिक्षा-दीक्षा का इंतज़ाम!
फिर भी काफ़ी है होशियार
वह खेल-खेल में सीख चुकी
मुझसे ही अब तक कई काम
उस लड़की का है जया नाम

मास्टर!

घुन-खाए शहतीरों पर की, बाराखड़ी विधाता बाँचे
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
दुखरन मास्टर गढ़ते हैं किसी तरह आदम के साँचे

अरे, अभी उस रोज़ वहाँ पर सरे आम जंक्शन-बाज़ार में
शिक्षा-मंत्री स्वयं पधारे चम-चम करती मजी कार में
ताने थे बंदूक सिपाही, खड़ी रहीं जीपें कतार में
चटा गये धीरज का इमरित सुना गए बातें उधार में
चार कोस से दौड़े आए जब मंत्री की सुनी अबाई
लड़कों ने बेले बरसाए, मास्टर ने माला पहनाई
संगीनों की घनी छाँव में हिली माल, मूरत मुसकाई
तंबू में घुस गये मिनिस्टर, मास्टर पर कुछ दया न आई

''अंदर जाकर तंबू में ही चलो चलें दुख दर्द सुनाएँ
नहीं, अकेला मैं ही जाऊँ, कहीं भीड़ में वह घबराएँ
बचपन के परिचित ठहरे, हम क्यों न चार बात कर आएँ
मौका पाकर विद्यालय की बुरी दशा पर ध्यान दिलाएँ''
सुनकर बात गुरुजी की फिर ''हाँ, हाँ''. बोले लड़के सारे
''हम जब तक सुसता भी लेंगे आगे बढ़कर कुआँ किनारे''
हाथ हिलाकर मास्टर बोला, ''जाओ बच्चो, जाओ प्यारे
चने चबाकर पानी पीना, सूख रहे हैं हलक तुम्हारे''

खिचड़ी बाल, साँवली सूरत दुखरन प्राइमरी मास्टर
लपके-लपके बढ़े आ रहे मैदानी हाते के भीतर
जहाँ तंबुओं की कतार थी जिसमें पैठे रहे मिनिस्टर
चारों ओर मिलिटरी, जिसके लोहे का टोपा था सिर पर
पके बाँस का पक्का घेरा, हरे बाँस की कच्ची फाटक
पतला बाँस बीस गज़ ऊँचा गड़ा हुआ था पूरी धड़ तक
फर-फर-फर फहराने वाला तिनरंगा था जिसका मस्तक
दुखरन मास्टर लगे देखने कांगरेस की शान एकटक

फाटक पर पहुँचे तो देखा, डटे हुए थे दो नेपाली
हाथों में संगीन सँभाले, लटक रही थी निजी भुजाली
''कहाँ जाएगा?'' वे गुर्राए, आँखों में उतराई लाली
दुखरन का दिल दुखी हुआ सुन सूखा तू-तू सूखी गाली
मास्टर बोले, ''यों मत कहना, पढ़ा-लिखा हूँ, मैं हूँ शिक्षक
तुम भी हो जनता के सेवक, मैं भी हूँ जनता का सेवक''
फिर तो वे धकियाकर बोले ''भाग-भाग, जा मत कर बकबक
हम फ़ौजी हैं, नहीं समजता क्या होता है सिच्छक-सेपक''

कुछ दिन बीते मास्टर ने यह कड़ा विरोध-पत्र लिख डाला
''ताम-झाम थे प्रजातंत्र के लटका था सामंती ताला
मंत्रीजी, इतनी जल्दी क्या आज़ादी का पिटा दिवाला
अजी आपको उस दिन मैंने नाहक ही पहनाई माला''
और लिखा ''उस रोज़ आपसे भीख माँगने नहीं गया था
आप नए थे, नया ठाठ था, लेकिन मैं तो नहीं नया था
भूल गए क्या अजी आपका छोटा भाई फेल हुआ था
और आपने मुझे जेल से मर्मस्पर्शी पत्र लिखा था

'प्रभुता पाई काहि मद नाही' तुलसी बाबा भले कह गए
जिसमें वाजिद अली बह गया उसी बाढ़ में आप बह गए
आप बने शिक्षा-मंत्री तो देहातों के स्कूल ढह गए
हम तो करते रहे पढ़उनी, जेल न जाके यहीं रह गए
और आपका तो कहना क्या, मुँह से बहै आरत की धारा
आदर्शों की छौंक मारकर अजी आपने हमें सुधारा
उपदेशों की धुआँधार में अकुलाता शिक्षक बेचारा
अजी आपको लगता होगा सुखमय यह भूमंडल सारा''

लिखा अंत में ''ध्यान दीजिए, बहुत दिनों से मिला न वेतन
किस से कहूँ, दिखाई पड़ते कहीं नहीं अब वे नेता-गण
पिछली दफ़े किया था हमने पटने में जा-जा के अनसन
स्वयं अर्थ-मंत्री जी निकले, वह दे गए हमें आश्वासन
और क्या लिखूँ, इन देहाती स्कूलों पर भी दया कीजिए
दीन-हीन छात्रों-गुरुओं की कुछ भी तो सुध आप लीजिए
हटे मिटे यह निपट जहालत, प्रभु ग्रामीणों पर पसीजिए
[illegible]''

भूले स्वाद बेर के

सीता हुई भूमिगत, सखी बनी सूपनखा
वचन बिसर गए देर के सबेर के
बन गया साहूकार लंकापति विभीषण
पा गए अभयदान शावक कुबेर के
जी उठा दसकंधर, स्तब्ध हुए मुनिगण
हावी हुआ स्वर्णमृग कंधों पर शेर के
बुढ़भस की लीला है, काम के रहे न राम
शबरी न याद रही, भूले स्वाद बेर के

[1961]

कबंध

पेट ही पेट है
डोलता फिरता हूँ
माथे की टोह में—
जाने कब तक भटकना पड़ेगा?
मैं तो कबंध हूँ।

चलते-चलते काठ हो गए पैर
काँप-काँप उठते हैं मलिन लोमश हाथ
ठस पड़ गया है रूखी त्वचा का स्पर्श-बोध
मुझे नहीं मिलेगा
क्या कोई दशरथनंदन?
त्रेता क्या सचमुच गुज़र गया?
मैं क्या भटकता रहूँगा आकल्प?
पेट ही पेट है
मैं तो कबंध हूँ!

गीले पाँक की दुनिया गई है छोड़

बढ़ी है इस बार गंगा ख़ूब
दियारों पर गाँव कितने ही गए हैं डूब
किन्तु हम तो शहर की इस छोर पर हैं
देखते हैं रात-दिन जल-प्रलय का ही दृश्य
पत्थरों से बँधी गहरी नींव वाला
किराए का घरा हमारा रहे यह आबाद
पुराना ही सही पर मज़बूत
रही जिसको अनवरत झकझोर
क्षुब्ध गंगा की विकट हिलकोर
सामने ही, पड़ोसी के—
नीम, सहजन, आँवला, अमरूद
हो रहे आकंठ जल में मग्न
रह न पाए स्तंभ पुल के नग्न
दूधिया पानी बना उनका रजत परिधान
रेलगाड़ी के पसिंजर खड़े होकर
खिड़कियों को झाँकते हैं
देखते हैं बाढ़ का यह दृश्य
उधर झूँसी इधर दारागंज...
बीच का विस्तार
बन गया है आज पारावार
भगवती भागीरथी—
ग्रीष्म में यह हो गई थी प्रतनु-सलिला
विरहिणी की पीठ-लुंठित एकवेणी-सदृश
जिसको देखते ही व्यथा से अवसन्न होते रहे मेरे नेत्र
रिक्त ही था वरुण की कल-केलि का यह क्षेत्र
काकु करती रही पुल की प्रतिच्छाया, मगर यह थी मौन
उस प्रतनुता से भरे इस बाढ़ की तुलना करेगा कौन?

सो गए जल में बड़े हनुमान
तख़्तपोश उठा लाए दूर गंगापुत्र
कृष्णद्वैपायनों का परिवार—

मलाहों के झोंपड़ों का अति मुखर संसार
त्रिवेणी के बाँध पर आकर हुआ आबाद
चिर उपेक्षित हमारी छोटी गली की
रूक्ष-दंतुर सीढ़ियाँ ही बन गई हैं घाट
भला हो इस बाढ़ का!

पाँच दिन बीते कि हटने लग गई बस बाढ़
लौटकर आ जाएगा फिर क्या वही आषाढ़?
हटी गंगा
किन्तु गीले पाँक की दुनिया गई है छोड़
और उस पर
मलाहों के छोकरों की क्रमांकित पद-पंक्ति
ख़ूब सुन्दर लग रही है...
मन यही करता कि मैं भी
उन्हीं में से एक होता
और—
नंगे पैर, नंगा सिर
समूचा बदन नंगा...
विचरता पंकिल पुलिन पर
नहीं मछली ना सही,
दस-पाँच या दो चार क्या कुछ घुँघचियाँ भी नहीं मिलतीं?

बाढ़ : '67 — पटना

छह महीने का अकाल
दस महीने का संकट—
सभी को दे गई मात
अबकी यह चार दिनों की बरसात
हफ़्ता भर डूबे रहे राजेन्द्रनगर-कंकड़बाग
धो दिया पुनपुन ने पटना की धरती का सुहाग
हथिया नक्षत्र में सुनेंगे फिर क्या हम बादल राग
ग़रीब नागरिकों की क़िस्मत में लग गई आग
सरकार तक मिटा न पाएगी दाग़।

नफ़ीस से नफ़ीस कारों को हो गया है जुकाम
तरावट में डूबी सड़कें कर रही थीं आराम
छोटी-छोटी गलियों का था बहुत बुरा हाल
रह न गया नालों-नालियों में सफ़ाई का मलाल
पाकर अभिजात घरानों की देवियों का अंगस्पर्श
मिला पुनपुन को बाढ़ के माध्यम से अनूठा हर्ष
टुकर-टुकर रह गई देखती गंगा बेचारी
अदना से अदना नदियों ने भर दिए रिकार्ड सरकारी
सिकुड़े रहे अफ़सर, 'चरण कमल' भीगने न पाएँ
धँसना न पड़े पानी में, बूट-मोजे उतर नहीं जाएँ
देते रहे दिलासा उन्हें होमगार्ड के जवान
'हमार जीते जी हुजूर काहे होंगे परेशान'
अभी उस रोज़, नाव पर मिले एक प्रखंडाधिकारी
सुसज्जित, सुवासित, चेहरे पर चमक थी सरकारी
बोले, "ग़नीमत है साहब, दया भगवान की
बच गये अपन तो, आ पड़ी थी जान की
खाई थी बाढ़ के पानी में पैर न भिगोने की क़सम
प्रण हुआ पूरा, दिखलाई है ख़ुदा ने रहम
छुट्टियाँ भी तो साली जाने कितनी थीं जमा
घिरे थे पानी में, मगर बच्चों में दिल ख़ूब ही रमा
फेमिली यहीं थी, भरा-पूरा था राशन

डल की झील में शिकारे पर सलामत था इंद्रासन
अभी तो और भी पाँच-सात रोज़ आराम में गुज़ारेंगे
अपन तो मौज है, रिलीफ-सिलीफ कुच्छो नहीं करेंगे!''
इतने में ऊपर मँडराता दिखा हवाई जहाज़
मुस्कुराए साहब, कहा, ''अमर रहे पाँच पार्टियों का राज!''
''कौन होगा?'' मैंने पूछा तो बोले वो पनातुर
''भोलाप्रसाद, इंद्रदीप, या फिर कपूरी ठाकुर...
हाँ, हाँ, और भला कौन हो सकता है!
इनका तो जी नहीं अघाता है, तन नहीं थकता है
बाप रे बाप, किस तरह करते हैं गगन-विहार
हवाई निरीक्षण मे ही होगा पब्लिक का उद्धार..
अच्छा, आपका तो नहीं है किसी दल से सरोकार?
पढ़े-लिखे लोग हैं, आपसे डरता हूँ सरकार!''
मैंने कहा : ''कोई बात नहीं, आते ही रहते हैं संकट
कहाँ तक होइएगा परेशान, पानी भी तो रहा घट!''
मधुकर गंगाधर ने लिए थे फ़ोटो झटपट
कैमरे की रील घूम गई खट-खट।

एस-डी-ओ, कलक्टर, कमिश्नर, सब के सब थे मशगूल
मिनिस्टर पहन नहीं रहे थे माला, ले नहीं रहे थे फूल
सब के अब व्यस्त थे, जुटे थे रिलीफ़ के कामों में
फैल गये थे हज़ारों आफ़िसर नगरों में, ग्रामों में
आया यह अकाल के फ़ौरन बाद महा-काल
हाय बेचारे बी.पी. मंडल, तुम्हें ही होना था हलाल
आती रहे मुसीबत पे मुसीबत, सुदृढ़ हों महामाया बाबू
नया-नया शासन है, बाधाओं पर रहे भी तो क़ाबू
हाय-हाय लाड़ले हमारे छोटे-बड़े ऑफ़िसर
पड़ी है किसे, कौन रखता है भला आपकी ख़बर
खटते थे तब भी, अब तो और भी खटते हैं
दुपहर-रात तक फ़ाइल पे फ़ाइल पलटते हैं
पर्वाह नहीं कुछ भी, चलता रहे आपस में कीचड़-उछालन
और भला होगा क्योंकर मच्छरों-मेढकों का लालन-पालन
हार का डर नहीं, न जीत का प्रलोभन

तमाशा है चुनाव इनके लिए, परम सुशोभन
चलती है हुकूमत अफ़सर की तीस-पैंतीस साल
रहेंगे मिनिस्टर पाँच वर्ष रामलाल-श्यामलाल
इसीलिए लाट्टू की तरह मंत्री खाते हैं चक्कर
तेल के कोल्हू में निकालना चाहते हैं शक्कर
मिनटों में निकला नहीं क्यों बाढ़ का पानी?
डूबी रही दस दिन क्यों बिहार की राजधानी?
बीस जगह पुनपुन तटबंध क्यों टूटा?
पाप का बीस-साला घड़ा क्योंकर इसी बार फूटा?

वाह वाह रे छोकरों की ज़मात!
तुमने कर दी है मात
बूढ़ों की चकल्लस मान गई हार
देख के तुम्हारा नौका-विहार
कैमरा था गले में, ट्रांज़िस्टर बाँह में
मुखर थी मुद्राएँ मुस्कानों की छाँह में
उछल रहे थे चूतड़, मटक रहे थे कूल्हे
नवाब के नाती थे, राजा के दूल्हे
लगता था कहाँऽऽ
कि संकट-फंकट है यहाँऽऽ!

छेड़ो मत इनको !

जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाया होगा!
छेड़ो मत इनको
बाहर निकलने दो इन्हें अपनी उपलब्धियाँ
भरने दो मधुकोष
छेड़ो मत इनको
बड़ा ही तुनुक है मिज़ाज
रंज हुई तो काट खाएँगी तुमको
छोड़ दो इनको, करने दो अपना काम

छेड़ो मत इनको
रचने दो मधुछत्र
जमा हो ढेर-ढेर-सा शहद
भरेंगे मधुभाँड ग़रीब बनजारे के
आख़िर तुम तक तो पहुँचेगा ही शहद
मगर अभी छेड़ो मत इनको!

नादान होंगे वे
उनकी न बात करो
मारते हैं शहद के छत्तों पे कंकड़
छेड़ते हैं मधु-मक्खियों को नाहक
उनकी न बात करो, नादान होंगे वे
कच्ची होगी उम्र, कच्चे तजरबे
डाँट देना उन्हें, छेड़ख़ानी करें अगर वे

तुम तो सयाने हो न?
धीरज से काम लो
छेड़ो मत इनको
करने दो जमा शहद
भरने दो मधुकोष
रचने दो रस-चक्र
छेड़ो मत इनको!

सिन्धु नद

हे सिन्धु, देख तव अमियधार
गदगद होता हूँ बार-बार
तुम आए कल कल छल छल कर
उस मानसरोवर से चलकर
पच्छिम हटकर फिर उत्तर से
हिमगिरि के वक्षस्थल पर से
हे सिन्धु, देख तव अमियधार
गदगद होता हूँ बार-बार

हम पराधीन, तुम हो स्वतंत्र
सिखलाते जाओ नया मंत्र
हे हिमगिरि के साकार भाव
डूबे न हमारी भरी नाव
तुम बने रहो यों उदासीन
दिन दिन हम होते जायँ क्षीण
अपनी निधि, अपना अमृत द्रव
अपना जीवन, बस सबका सब
लेकर पच्छिम की ओर बहे
हे निर्मम, तुमको कौन कहे
हो गया हाय, पूरब उजाड़
खिंच गया ख़ून, रह गया हाड़
मत जाओ मिलने सागर से
संतोष करो इस सागर से
हम क्षुद्र सही, पर भाव-भरित
तेरे अपने हैं, महासरित
हम प्यासे हैं हम रहे तरस
इस शुष्क हृदय को करो सरस
गंगा जमुना औ' ब्रह्मपुत्र
कृष्णा कावेरी औ' रेवा
अपने को करती हैं कृतार्थ
इस पुण्य भूमि की कर सेवा

पर, सिन्धु, तुम्हारी बात और
आख्यान और इतिहास और
इस महादेश की जनता का
तेरे प्रति है विश्वास और
हे दूत, महान हिमालय के
संदेश सुनाना भूल गए
तुम बने इधर चिर मूक, उधर
लाखों फाँसी पर झूल गए
हे महामहिम, बस हमको तो
वह याद ज़माना आता है
इस तट पर वीर सिकंदर-सा
कोई दीवाना आता है
तेरी धारा में डूब लगा
देता है अर्घ जुपीटर को
आगे रक्खे हैं स्वर्ण पात्र
हैं आँख उठी कुछ ऊपर को

X X X

उस नृप की विश्वविजयिनी वह
सेना होकर के जब हताश
ख़ाली हाथों ही लौटी थी
तब का तेरा हिमधवल हास—
अंकित है अब तक भली भाँति
इस दिव्य भूमि के कण-कण में
लीलाएँ क्या-क्या हुईं नहीं
तेरे इस अद्भुत प्रांगण में
रिपु का अप्रतिहत रणोन्माद
आकर जिसने कर दिया शांत
वह चंद्रगुप्त है खेल चुका
तेरे समक्ष नाटक सुखांत
बोलन की घाटी इधर, उधर—
सतलज का आँचल है गवाह
अपनी बाँहों से दुश्मन की

तुमने रोकी है सदा राह

मणि मोती सोना चाँदी के
शाही परियों के, बाँदी के
भारी भारों से लदे हुए
जाँचे परखे औ' मधे हुए
टन्-टन् करती घंटी वाले
ऊनी नकेल कंठी वाले
सौ-सौ ऊँटों की वह क़तार
तुमने देखी है कई बार
अपनी छाती पर से जाते
ईरान अरब की ओर अरे!

तेरे तट पर कुछ अर्से तक
जिनके शासन का दौर चला
उन मीरों और कलन्दरों को
कैसे सकते तुम भूल भला?

है याद तुम्हें वह नरनाहर
जिसको सब कहते थे दाहर
आजानुबाहु आयतस्कंध
सुंदर ग्रीवा, सुगठित कबंध
नासिका तुंग लोचन विशाल
ऊँचा इतना जितना कि साल
चौड़ी छाती उन्नत ललाट
पौरुष की वह प्रतिमा विराट
आदिम मानव करता होगा
तेरी धारा में जल-विहार
बल्कलवसना मानवी उसे
रह-रह लेती होगी निहार—
तट पर कृष्णाजिन को थामे
अरुणोदय की शुभ वेला में
आदिम मानव करता होगा
जब इस धारा में जल विहार।

तेरे तट पर दाएँ-बाएँ
चरती होंगी कपिला गाएँ
चरते होंगे सित असित मेष
तज स्वर्गिक सुख, तज यज्ञ भाग
तज तज कर अपना हव्य भाग
वे इंद्र वरुण अर्यमा आदि
उन सीधे सादे पशुओं का
बन जाते होंगे सहज बंधु--
धर चरवाहों का सरल भेष!
चरते होंगे सित असित मेष
चरती होंगी कपिला गाएं
तेरे तट पर दाएँ बाएँ

वह विश्वविजय की प्रबल प्यास
वह ऋचापाठ वह मंत्रगान
तेरे हिय-पट पर अंकित है
उपनिषदों का वह आत्म-ज्ञान
ऋक् यजुष् साम अथर्व
संस्कृति का वह उद्योग पर्व

कल्पना यहीं अंकुरित हुई
चेतना यहीं संस्फुरित हुई
तुम धन्य मोहनजोदड़ो धन्य
वह विश्व विदित भग्नावशेष
तव अंचल में संचित शत-शत
भाषा-भूषा औ भाव-भेष

मृगयाओं से थक थक करके
पीते होंगे छक छक करके
सुस्वादु सोमवल्ली कषाय
उथले चषकों में ढाल-ढाल
फिर शृंगविनिर्मित धनु सँभाल
भर तरकस में विषलिप्त तीर
तेरी कछार के झाड़ों में

गुल्मों में और दराड़ों में
दानवों दस्युओं को खोजा
करते होंगे वे आर्य वीर
भर तरकस में विषलिप्त तीर
औ' शृंगविनिर्मित धनु सँभाल

तेरी धारा में नहा नहा
नव जपा कुसुम के फूल बहा
कुछ खड़े-खड़े ही स्रोत मध्य
तो कुछ तट पर ही बैठ-बैठ
ऋषिगण संध्या-वंदन करते
शुक चंचुसदृश लाली वाले
या सोने की थाली वाले
शिशु रवि का अभिनंदन करते
ऋषिगण संध्या वंदन करते!
इकतारा पर गाने वाले
सूफ़ी संतों से तान मिली!
तुम जड़ थे, कविवर शाह धन्य
जिनसे तुमको यह जान मिली!

असुर वैदिक फिर बौद्ध-जैन
इस्लाम सिक्ख सबको देखा
तेरे इस बहते पानी पर
क्या खींच सका कोई रेखा

कुछ भेद नहीं, करते आए
स्वागत गुरुओं का, पीरों का
धोते आए हो हे उदार
तुम घाव सभी के तीरों का
हे सिन्धु देख तव अमियधार
गदगद होता हूँ बार-बार

काली सप्तमी का चाँद

काली सप्तमी का चाँद!
पावस की नमी का चाँद
तिक्त स्मृतियों का विकृत विष वाष्प कैसे सूँघता है चाँद!
जागता था, विवश था, अब ऊँघता है चाँद!
क्षीण दुर्बल कलाधर की कांति प्रतिपल खो रही है
सिमट आया प्रभा मंडल,
पीतिमा की परिधि छोटी हो रही है
मेंढकों ने चिढ़ाया है रात भर इसलिए कोयल रो रही है
भोर का तारा उगा है, बदलियों से जूझता है
झींगुरों को कौन टोके, फटे कंठों को भला कुछ सूझता है!
नीचे आ रहा है चाँद!
कवि पर छा रहा है चाँद!
पावस की नमी का चाँद!
काली सप्तमी का चाँद!

बदलियाँ हैं

पवन ने बहका लिया था,
मेघ-कुल की पुत्रियाँ हैं!
—बदलियाँ हैं!
बरस पड़ना कहीं पर भी
भिगो देना किसी को भी
—दुआ इनसे माँग लो!
ओफ़, इनसे क्यों डरे हो?
कहाँ इनमें बिजलियाँ हैं!
अरे, ये तोऽऽ
—बड़ी भोली बदलियाँ हैं!
—बड़ी सादी बदलियाँ हैं!
अजी, इनकोऽऽ
खूँटियों पर टाँग लो!
बरस पड़ना कहीं पर भी
भिगो देना किसी को भी
—दुआ इनसे माँग लो!
तैर आएँ कब किधर को
कब किधर को खिसक जाएँ
क्या पता...बस मौज इनकी!
बताऊँ भी?
ज़रा तो बदनाम है ही फ़ौज इनकी!
मगर यूँ तो, मेघ-कुल की पुत्रियाँ हैं!
पवन ने बहका लिया था—बदलियाँ हैं!
—दुआ इनसे माँग लो...
—खूँटियों पर टाँग लो...

[1979]

बच्चा चिनार

बच्चा चिनार
उदास है...
उनसे इनकार कर दिया
बढ़ने से
अपने बुज़ुर्गों का चिर जीवन
बच्चा चिनार पसंद नहीं करता...
उसने सामने खड़े
बच्चा चीड़ से पूछा—
'क्या सोच रहा है तू?'
बच्चा चीड़ हुलसकर बोला,
'मगज खपाने का काम
हमारे बुज़ुर्ग करेंगे!
अपन तो रत्ती-भर परवाह नहीं करते
किसी बात की, क़तई नहीं!
बिलकुल नहीं!!'
'हाँ, प्यारे, उधर तो सुन!
आदमज़ाद बच्चों की
किलकारियाँ तो सुन!!
मुन्ने भी हैं
मुन्नियाँ भी हैं
पहाड़ी नहीं, मैदानी हैं वे ..
पंजाबी हैं, मराठे हैं, बंगाली हैं,
आपस में जाने क्या कह-सुन रहे हैं।'
बच्चा चिनार झूमकर बोला—
'इनके बुज़ुर्ग साथ नहीं आए!'
'नहीं'—बच्चा चीड़ बोला, आहिस्ते
'हाँ, दो ही तो थे...
दोनों ही मानतलाई गए होंगे
वहाँ एक हरियाणवी गाय
फ्रिजवाली घास खाती है—
और 45 लीटर दूध देती है रोज़

दोनों बुज़ुर्ग
हरियाणवी गाय के खुरों की पवित्र धूल
सर-माथे लगाएँगे
और, जम्मू वापस आ जाएँगे!
और तब तक ये भी हमारी घाटी छोड़ चुके होंगे'
गंभीर होकर कहा बच्चा चिनार ने—
'अच्छा हुआ अल्पजीवी मैदानी बुज़ुर्ग इधर नहीं आए।
वर्ना हमारे चिरजीवी बुज़ुर्गों का गुमान
दस गुना बढ़ जाता!'

[1982]

शासन की बंदूक़

ख़ड़ी हो गई चाँप कर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक़

उस हिटलरी गुमान पर सभी रहे हैं थूक
जिसमें कानी हो गई शासन की बंदूक

बढ़ी बधिरता दस गुनी, बने विनोबा मूक
धन्य-धन्य वह, धन्य वह, शासन की बंदूक़

सत्य स्वयं घायल हुआ, गई अहिंसा चूक
जहाँ-तहाँ दगने लगी शासन की बंदूक

जली ठूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक़

[1966]

बाक़ी बच गया अंडा

पाँच पूत भारतमाता के, दुश्मन था ख़ूँख़ार
गोली खाकर एक मर गया, बाक़ी रह गए चार
चार पूत भारतमाता के, चारों चतुर-प्रवीन
देश-निकाला मिला एक को, बाक़ी रह गए तीन
तीन पूत भारतमाता के, लड़ने लग गए वो
अलग हो गया उधर एक, अब बाक़ी रह गए दो
दो बेटे भारतमाता के, छोड़ पुरानी टेक
चिपक गया है एक गद्दी से, बाक़ी रह गया एक
एक पूत भारतमाता का, कंधे पर है झंडा
पुलिस पकड़ के जेल ले गई, बाक़ी बच गया अंडा

[1950]

मैं तुम्हें अपना चुंबन दूँगा

तुम उनकी साज़िशों को ख़त्म कर दोगे
तुम प्रवंचना की उनकी कुटिल चालों का अंत कर दोगे
हत्याएँ करने-करवाने की—
ठंडी फाँसियाँ देने-दिलवाने की--
चुपचाप ज़हर घोलने-घुलवाने की—
कारागार की नारकीय कोठरियों में
मानवता को गलाने-गलवाने की—
यानी उनकी एक-एक साज़िश को
तुम ख़त्म कर दोगे
हमेशा-हमेशा के लिए।
मैं तुम्हारा ही पता लगाने के लिए
घूमता फिर रहा हूँ
सारा-सारा दिन : सारी-सारी रात।
आगामी युगों के मुक्ति सैनिक, कहाँ हो तुम?
निपीड़ित-शोषित मानवता के उद्धारक, कहाँ हो तुम?
आओ, सामने आओ बेटे!
मैं तुम्हारा चुंबन लूँगा
मैं तुम्हें अपना चुंबन दूँगा

मैं तुम्हीं को अपनी यह शेष आस्था अर्पित करूँगा
मैं तुम्हारे ही लिए जियूँगा, मरूँगा
मैं तुम्हारे ही इर्द-गिर्द रहना चाहूँगा
मैं तुम्हारे ही प्रति अपनी वफ़ादारी निबाहूँगा
आओ, खेत-मज़दूर और भूमिदास नौजवान
आओ, खदान-श्रमिक और फ़ैक्ट्री-वर्कर नौजवान
आओ, कैम्पस के छात्र और फ़ैकल्टियों के नवीन-प्रवीण प्राध्यापक
हाँ, हाँ, तुम्हारे ही अंदर तैयार हो रहे हैं
आगामी युगों के लिबरेटर

आओ भाई, सामने आओ!
मैं तुम्हारा चुंबन लूँगा
मैं तुममें से एक-एक सिर सूँघूँगा

आओ भई, सामने आओ!
मुझ पगलेट के साथ बातचीत करो
हँसो-खेलो मेरे साथ
मैं तुम्हारी जूतियाँ चमकाऊँगा
दिल बहलाऊँगा तुम्हारा
कुछ भी करूँगा तुम्हारे लिए...
मैं तुम्हें अपना चुंबन दूँगा...

[1973]

वह कौन था?

कोर्ट की दीवार पर
चुपचाप जो पोस्टर अभी चिपका गया
वह कौन था?
जो चाय की दुकान के उस बरंडे पर
फेंककर नोटिस अभी ग़ायब हुआ
वह कौन था?
जो प्लेटफारम पर जमा इन यात्रियों की भीड़ में
यह लीफलेट गिरा गया है
अभी चलती ट्रेन से
वह कौन था?
सुप्त सुंदर सड़क के अति रुचिर उर पर
शिशिर की नीरव निशा में
चाक से जो स्पष्ट अक्षर लिख गया
वह कौन था?

क्या लिखा है?
राह चलते लोग रुक-रुक पास आते
बाँचते हैं
चकित-विस्मित दृष्टियों से निगलकर भावार्थ
रह-रहकर परस्पर ताकते हैं—
क्या लिखा है?
परस्पर तसदीक करके इशारों से बात सारी
राह चलते लोग गुपचुप राह पकड़े जा रहे हैं…
क्या लिखा है?
—'क्षीण अनशनक्लिष्ट आहत…'
'राजनैतिक बंदियों का वध हुआ है…
'हो गईं निःशेष लाशें…
'एंबुलेंसी कार आई, गई वापस…
'शांतिपूर्वक हो गया संपन्न यह नरमेध…
चुप रहो, चुप, चलो जल्दी!
अरे, हाँ, तो क्या लिखा है?

—'बूचड़ों की क़ैद में हैं, भाइयो, साथी हमारे
'तोड़कर हम जेल का फ़ाटक—
'उन्हें आज़ाद करने जा रहे हैं
'आज-कल-परसों कि चौथे रोज़ निश्चय
'पुलिस-क्वार्टर में अगर भगदड़ मचे, तो
शांत रहना, भाइयो, मत हड़बड़ाना…''
राह चलते लोग रुक-रुक पास आते, बाँचते हैं
परस्पर को ताकते हैं
परस्पर तसदीक करके इशारो से बात सारी…
खिसकते हैं
सोचते हैं
सोचते ही चल रहे हैं—
अरे, इस 'आज़ाद छापेमार टुकड़ी' में भले कै जने होंगे!
हमारी ही भाँति उनके भी कदाचित् नाम होंगे…
मधु, मुरली, गजाधर, अफ़जल कि छट्टू!!

आज बंधन-मोक्ष के त्यौहार का आरंभ होता है
'उपद्रव', 'उत्पात' कहकर कुबेरों का वर्ग रोता है
कर-चरण-मन-प्राण फंदों में फँसे थे—
दिशा थी अवरुद्ध, दृग पथरा रहे थे—
सर्वहारा ने निकाला है स्वयं ही मुक्ति का यह मार्ग
महाश्वेता दानी कवल से सर्वांशतः अब मुक्त होगा राष्ट्र
अब आज़ाद होंगे नगर, आज़ाद होंगे गाँव
अब आज़ाद होगी भूमि
अब आज़ाद होंगे खेत
अब आज़ाद होंगे कारख़ाने
मशीनों पर और श्रम पर, उपज के सब साधनों पर
सर्वहारा स्वयं अपना करेगा अधिकार स्थापित
दूहकर वह आँत जोंकों की, मिटा देगा धरा की प्यास
करेगा आरंभ अपना स्वयं ही इतिहास
बुद्धिजीवी जनों की क्षमता करेगी काम सोने में सुहागे का
सम्मिलित स्वेच्छा प्रणोदित जातियाँ पथ बना लेगी स्वयं आगे का

औलिया की दी हुई ताबीज बाँधे बाँह में
यह पुलिस-इंसपेक्टर बहादुर
एस.पी. को दे रहे हैं गालियाँ...
कर दिया पार्सल ससुरे ने
कम्यूनिस्टों के क़िले में
आठ ठो बंदूक़
दस ठो आदमी
जीप है साली सड़ी-सी…
पुलिस इंसपेक्टर बहादुर को न आती नींद गाढ़ी
अर्ध-निद्रित दशा में बिसुना रहे हैं—
लाल झंडे का हथौड़ा पड़ा सर पर—
और, हंसिया ने गले को छू लिया है—
बाप रे!
—क्या हुआ सरकार
—कुछ नहीं जी, कुछ नहीं!
—तो, क्या हुआ सरकार?
—चुप रहो जी, भूत का शुबहा हुआ…
पिट-पिटाकर
लुट-लुटाकर
पुलिस इंसपेक्टर बहादुर
लिख रहे दो रोज़ बाद रिपोर्ट—
मिर्च की बुकनी छिड़ककर आँख में
हमारे हथियार डाकू ले गए
किया क़ाबू में मुझे
पिस्तौल तक छोड़ा नहीं, सर!
बड़े दुख की बात है, सर!
आठ ठो बन्दूक…
एक ठो पिस्तौल…
सैकड़ों कारतूस…
पाँच लंबी, तीन छोटी टार्च…
भर कनस्तर घी, अनेकों टिन किरासन
बहुत सारा और भी सामान

मार लाया रात को 'आज़ाद छापेमार दल'
बग़ीचे का कैम्प उठकर इसी से तो राय साहब की
कचहरी में चला आया है
ज़मींदारों के हृदय में घुस गया है बाघ
बस चले तो बेचकर वह भूमि-धन-पशु-दास-दासी बाग़—
पोखर-चौर-चांचर
भाग जाए फारमूसा
या, सुरक्षा समिति के ननिहाल जाकर चैन की बंसी बजाएँ
पर, अचल संपत्ति है यह
ढोल मामूली नहीं है
बाँधकर जिसको गले से भाग जाएँगे कहीं राजा बहादुर,
राय साहब
सो न होगा!
भूमि अब प्रतिशोध लेगी
लील जाएगी उन्हें जो निरर्थक छेके हुए हैं—
अहल्या की अति व्याप्ति-समान उसको महामूर्छा की दशा में
अभी तक रक्खे हुए हैं
लील जाएगी उन्हें वह
पकड़कर छाया भगोड़ों को करेगी क़ैद, पृथ्वी पुत्र देगा
दंड उनको
आत्मबोध हुआ
पृथ्वीपुत्र जागे
ले रहे अँगड़ाइयाँ, लो उठ गए हैं
(दंडपाणि त्रिशूलधारी चक्रधारी हलधर गदाधर)
छीन लाए हैं पुलिस से दुनाली बंदूक़
अपने आप सीखेंगे चलाना
अहिंसा का खोल ओढ़े, हिंसकों को होश होगा ठीक
पुलिस में भगदड़ मचेगी, आ सकेगा आततायी नहीं
पृथ्वीपुत्र के नज़दीक
रुद्रता अनिवार्य होगी भद्रता के पूर्व...
सर्वहारा वर्ग के नीललोहित फूल, तुम बहुतेरा फलो
हे अपरिचित भूमिगत, अज्ञातवासी
नाम गोत्रविहीन प्रिय 'आज़ाद छापेमार' टुकड़ी के

बहादुर बंधु!

निष्कंटक करो इस कंटकावृत भूमि को
अपनी परिधि का करो तुम प्रस्तार
हे नवशक्ति!

[1948]

दरख़्तों की सघन बगीची में

गाढ़ा साँवला रंग
झबरे बालों वाले सिर
छोटी-छोटी तेज़ आँखें
पतले-पतले होंठ
छोटी-छोटी नाक
ज़रा-सी मूँछें
तनिक-सी दाढ़ी
सफ़ेद झकझक—
नन्हे-नन्हे मोतिया दाँतों की
बेहद चमकीली घनी पाँतें..
कौन हैं ये! कौन हैं ये!
काले-कलूटे सूखे-साँवले
लगभग नंग-धड़ंग सौ पचास
आदिवासी मज़दूरों की छोटी-सी सभा
झोंपड़ियों वाली विरल-बस्तियों के मध्य
जामुन-नीम बड़हल-आम के
दरख़्तों की सघन बगीची में
मर्द भी, औरतें भी
नवजात शिशुओं को, अपनी पीठ पीछे बाँधे लटकाए!

एक ठिंगना नौजवान उठा
तेज़ आवाज़ में, जल्दी-जल्दी
हम अपने अलावा
और किसी को नहीं जानते
हम आप ही अपने लीडर हैं, अपने
मुखिया हैं
जंगल और पहाड़, हमारे बाप हैं, चाचा हैं
नदियाँ हमारी माँ हैं, मौसी-मामी हैं
झरने हैं हमारे सगे
ये खोह, वो झुरमुट, वो कछार
पत्तों-टहनियों से छाई हुई ये झोंपड़ियाँ

ये हैं हमारे गाँव, शहर ज़िला……
हम किसी रिसी-मुनी की औलाद नहीं हैं
वसिष्ठ-यागबलक-मनु-शांडिल
उनके आदि-पुरुष होंगे
हमारे तो कोई नहीं होते
हम तो जंगली हैं, चंडाल, पामर, भुच्च
सूअर-गाय-मोर-बतक का भोग चढ़ाने वाले
हमारे पितर, हमारी देवियाँ
इतिहास वो होगा, जो हम रच रहे हैं
हमारी तोड़-फोड़ मार-काट
अपना जंगल अपनी ज़मीन फिर से
हासिल करने के लिए हमारी यह जदोजिहाद
हमारा यह नया-नया नक्शा
नई-नई भूमिति, नया-नया भूगोल
हमारी अपनी नई हदबंदियाँ……
बाहर का कोई इधर बढ़ेगा
तो हम उसे ज़िन्दा वापस जाने देंगे क्या?
ज़िन्दाबाद हम!
ज़िन्दाबाद हमारे जंगल
ज़िन्दाबाद हमारी नदियाँ
ज़िन्दाबाद हमारे पहाड़
ज़िन्दाबाद हमारे सूअर
ज़िन्दाबाद हमारी मुर्ग़ियाँ……
बाक़ी सबने 'ज़िन्दाबाद' दुहराए

तुरंत ही एक साँवली नौजवान औरत उठी
पीठ से बँधे शिशु का माथा
निकला हुआ था बाहर
वो नन्ही-नन्ही आँखों से सभी कुछ
देख रहा था तिर्छे……
तो वो छोकरी-सरीखी औरत
शांत स्वर में बोली—
मैंने पिछले महीने

दो दुश्मनों पर घात लगाए
तीरों का निशाना ज़रा-सा चूका था
दसियों फ़ौजी जीपें गुज़रीं
किसी को मेरी गंध तक न मिली
क़सम खा रखी है
दुश्मनों पर घात लगाती रहूँगी
कि पीठ से बँधा शिशु रो उठा
उसे गोद में लेकर बैठ गई……

तीसरा वक्ता एक अधेड़ आदिवासी था,
उसने उठकर आहिस्ते से कहा—
हम नाहक़ किसी की जान नहीं लेंगे
मगर अब आगे चुप नहीं बैठेंगे
देखो न,
कारख़ाना के नाम पर
पिछले दस-पंद्रह साल के अंदर
हमारे सारे जंगल हम से
छीन लिए हैं उन लोगों ने
सफ़ेदपोश बाबू लोगों ने
कहीं का न रहने दिया हमें
आज हम पूरी तरह उनके गुलाम हैं
हमारे कुछ एक लोगों को उन्होंने ख़रीद लिए हैं
वे हमें भी ख़रीदने की कोशिश करते हैं……
मगर मैदानी इलाक़े से
रोज़ी-रोटी के लिए इधर आए हुए
ग़रीब कुली-मज़दूर भी तो उनके ख़िलाफ़
गोलबंद हो रहे हैं अब
उनके ज़ोर-जुलुम और बे-इन्साफ़ी का
ये कुली-मज़दूर भी तो
विरोध कर रहे हैं अब
ये तो हमारे दुश्मन नहीं हैं न?
अपनी लड़ाई में हम उन्हें ज़रूर साथ लेंगे
इनके जद्दो-जहद में

हम भी इनके साथ होंगे......

चौथा, जो उठा वो नीले रंग की निकर
और आधी बाँहों वाली 'गोलकट' बनियान
पहने हुए था
उसने खिचड़ी बोली में कहा—
हम हिन्दू नहीं हैं, न हम ईसाई हैं
हम तो आदिवासी हैं, गिरिजन हैं हम
हिन्दू हों चाहे ईसाई, भूख तो सभी को लगती है......
जो हमारी रोज़ी-रोटी का परबंध करेगा
हम उसी को अपना मानेंगे......
हमारे बाप-दादा बुद्धू थे
हम लेकिन बुद्धू नहीं बनेंगे......

और अंत में निकर-बनियान वाला
एक नौजवान आवेगी सुरों में
गा उठा—
सुनो नहीं आलतू-फालतू बात
खाओ नहीं
डंडा-घूसा-लात
चौकस रहो
एक-एक दिन-रात
तभी तो भैया
जालिम खाएँगे मात
जान लो भैया,
ग़रीबों की एक होती जात
उसी के हुकुम से
हिलेंगे एक-एक पात
किसी की सुनो नहीं
आलतू-फालतू एक भी बात!!

[20.6.79]

लाल भवानी

झूठ-झूठ सुजला-सुफला के गीत न हम अब गाएँगे;
भात-दाल-तरकारी जब तक नहीं पेट भर पाएँगे;
सड़ी लाश है ज़मींदारियाँ, इनको हम दफ़नाएँगे;
गाँव-गाँव पाँतर-पाँतर को हम भू-स्वर्ग बनाएँगे;
खेत हमारे, भूमि हमारी, सारा देश हमारा है,
इसीलिए तो हमको इसका चप्पा-चप्पा प्यारा है;
ज़मींदार हैं बदहवास, हमने उनको ललकारा है,
जिसका जाँगर उसकी धरती, यही एक बस नारा है;
नाहक ही हम पिटते आए, व्यर्थ लाठियाँ खाई हैं,
पहचाना अब, चोर-चोर सब ये मौसरे भाई हैं!

होशियार, कुछ देर नहीं है लाल सबेरा आने में,
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना है कि तैलंगाने में!

उबड़-खाबड़ बालू वाली परती बंजर या ऊसर,
कैसी भी हो, धरती निर्भर रही जोतने वालों पर;
सदियों तक लूटता रहा है, जमा किया है, खाएगा,
दो पैसा भी ज़मींदार अब क्यों मुआवजा पाएगा;
गूँज रहा है दसों दिशा में भूख खेतिहरों का स्वर,
सुने प्रीमियर, सुने मिनिस्टर, सुने असिमली के मेम्बर;
अंग्रेज़ी, अमरीकी जोंकें, देशी जोंकें एक हुईं,
नेताओं की नीयत बदली भारतमाता टेक हुई;
राजाओं को अभय दान देकर परजा को आप ठगें,
अड़ड़-अड़ड़ धम अड़ड़-अड़ड़ धम काशमीर में तोप दगें;

कागज़ की आज़ादी मिलती ले लो दो-दो आने में,
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तैलंगाने में!

पुलिस और पल्टन के हाथी कितना चारा खाते हैं;
वहीं रंग है, वहीं ढंग है, फ़रक नहीं कुछ पाते हैं;
ऊपर वाले बैठे-बैठे ख़ाली बात बनाते हैं,
बाढ़-अकाल-महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं;
देश-भक्ति की सनद मिल रही आए दिन शैतानों को,

डाँट-डपट उपदेश मिल रहे दुखी मजूर-किसानों को;
बात-बात में नाक रगड़ना पड़ता है इंसानों को,
हरी फ़सल चरने को छुट्टा छोड़ दिया है हैवानों को;
सड़ी-गली नौकरशाही से पहले ही ऊबे थे हम,
इधर 'स्वराज' मिला है, तब से दूर हो गया सभी भरम;

नेता परेशान हैं जनता का तूफ़ान दबाने में
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तैलंगाने में!

सेठ और ज़मींदारों को नहीं मिलेगा एक छदाम,
खेत-खान-दूकान-मिलें सरकार करेगी दख़ल तमाम;
खेत-मज़दूरों और किसानों में ज़मीन बँट जाएगी;
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडराएगी;
नहीं मिलेगा साज़िश करने का मौक़ा ग़द्दारों को,
वतन-फ़रोशी का न मिलेगा ठेका ठेकेदारों को;
सपने में भी क्षमा मिलेगी नहीं कभी हत्यारों को,
एक-एक कर क़ैद करेगी जनता रँगे सियारों को;
नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा होगा चूरम-चूर,
सुजला, सुफला के गाएँगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर;

इन कानों को तृप्ति मिलेगी, तब उस मस्त तराने में,
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तैलंगाने में!

आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी

आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी,
यही हुई है राय जवाहर लाल की
रफ़ू करेंगे फटे-पुराने जाल की
यही हुई है राय जवाहर लाल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी

आओ, शाही बैण्ड बजाएँ
आओ बंदनवार सजाएँ
ख़ुशियों में डूबें उतराएँ,
आओ तुमको सैर कराएँ—
उटकमंड की, शिमला-नैनीताल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी

तुम मुस्कान लुटाती आओ,
तुम वरदान लुटाती जाओ,
आओ जी चाँदी के पथ पर,
आओ जी कंचन के रथ पर,
नज़र बिछी है, एक-एक दिक्पाल की
छटा दिखाओ गति की लय की ताल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी
सैनिक तुम्हें सलामी देंगे
लोग-बाग बलि-बलि जाएँगे
दृग-दृग में ख़ुशियाँ छलकेंगी
ओसों में दूबे झलकेंगी
प्रणति मिलेगी नए राष्ट्र के भाल की
आओ रानी...
बेबस-बेसुध, सूखे रुखड़े,
हम ठहरे तिनकों के टुकड़े...
टहनी हो तुम भारी-भरकम डाल की
खोज-ख़बर तो लो अपने भक्तों के ख़ास महाल की!
लो कपूर की लपट
आरती लो सोने के थाल की

आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी

भूखी भारत माता के सूखे हाथों को चूम लो
प्रेसिडेंट के लंच-डिनर में स्वाद बदल लो, झूम लो
पद्मभूषणों, भारत-रत्नों से उनके उद्‌गार लो
पार्लमेंट के प्रतिनिधियों से आदर लो सत्कार लो
मिनिस्टरों से शेकहैण्ड लो, जनता से जयकार लो
दाएँ बाएँ खड़े हज़ारों ऑफ़िसरों से प्यार लो
धनकुबेर उत्सुक दीखेंगे उनके ज़रा दुलार लो
होंठों को कंपित कर लो, रह रह के कनखी मार लो
बिजली की यह दीपमालिका फिर-फिर इसे निहार लो
यह तो नई-नई दिल्ली है, दिल में उसे उतार लो
एक बात कह दूँ मलका, थोड़ी-सी लाज उधार लो
बापू को मत छेड़ो, अपने पुरखों से उपहार लो
जय ब्रिटेन की, जय हो इस कलिकाल की!
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी!
रफ़ू करेंगे फटे-पुराने जाल की!
यही हुई है राय जवाहरलाल की!
आओ रानी हम ढोएँगे पालकी

[1961]

मंत्र कविता

ओं शब्द ही ब्रह्म है
ओं शब्द और शब्द और शब्द और शब्द
ओं प्रणव, ओं नाद, ओं मुद्राएँ
ओं वक्तव्य, ओं उद्‌गार, ओं घोषणाएँ
ओं भाषण...
ओं प्रवचन...
ओं हुंकार, ओं फटकार, ओं शीत्कार
ओं फुसफुस, ओं फुत्कार, ओं चीत्कार
ओं आस्फालन, ओं इंगित, ओं इशारे
ओं नारे और नारे और नारे और नारे

ओं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ
ओं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
ओं पत्थर की दूब, ख़रगोश के सींग
ओं नमक-तेल-हल्दी-जीरा-हींग
ओं मूस की लेंड़ी, कनेर के पात
ओं डायन की चीख़, औघड़ की अटपटी बात
ओं कोयला-इस्पात-पेट्रोल
ओं हमीं हम ठोस, बाक़ी सब फूटे ढोल

ओं इदमन्नं, इदं आपः इदमाज्यं, इदं हविः
ओं यजमान, ओं पुरोहित, ओं राजा, ओं कविः
ओं क्रांतिः क्रांतिः क्रांतिः सर्वग्वं क्रांतिः
ओं शांतिः शांतिः शांतिः सर्वग्वं शांतिः
ओं भ्रांतिः भ्रांतिः भ्रांतिः सर्वग्वं भ्रांतिः
ओं बचाओ बचाओ बचाओ बचाओ
ओं हटाओ हटाओ हटाओ हटाओ
ओं घेराओ घेराओ घेराओ घेराओ
ओं निभाओ निभाओ निभाओ निभाओ

ओं दलों में एक दल अपना दल, ओं
ओं अंगीकरण, शुद्धीकरण, राष्ट्रीकरण

ओं मुष्टीकरण, तुष्टिकरण, पुष्टिकरण,
ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म वज्रासन
ओं ट्रिब्युनल, ओं आश्वासन
ओं गुटनिरपेक्ष, सत्तासापेक्ष जोड़-तोड़
ओं छल-छंद, ओं मिथ्या, ओं होड़महोड़
ओं बकवास, ओं उद्घाटन
ओं मारण-मोहन-उच्चाटन

ओं काली काली काली महाकाली महाकाली
ओं मार, मार, मार, वार न जाए ख़ाली
ओं अपनी ख़ुशहाली
ओं दुश्मनों की पामाली
ओं मार, मार, मार, मार, मार, मार, मार,
ओं अपोजिशन के मुंड बनें तेरे गले का हार
ओं ऐं ह्रीं क्लीं हूं आङ्
ओं हम चबाएँगे तिलक और गांधी की टाँग
ओं बूढ़े की आँख, छोकरी का काजल
ओं तुलसीदल, विल्वपत्र, चंदन रोली, अक्षत, गंगाजल
ओं शेर के दाँत, भालू के नाख़ून, मर्कट का फोता
ओं हमेशा, हमेशा, हमेशा करेगा राज मेरा पोता
ओं छूः छूः फूः फूः फट् फिट् फुट
ओं शत्रुओं की छाती पर लोहा कूट्
ओं भैरों, भैरों ओं बजरंगबली
ओं बंदूक़ का टोटा, पिस्तौल की नली
औं डालर, ओं रूबल, ओं पाउंड
ओं साउंड, ओं साउंड, ओं साउंड
ओम्, ओम्, ओम्,
ओम् धरती, धरती, धरती, व्योम्, व्योम्, व्योम्,
ओं अष्टधातुओं की ईंटों के भट्टे
ओं महामहिम, महमहो, उल्लू के पट्ठे
ओं दुर्गा दुर्गा दुर्गा तारा तारा तारा
ओं इसी पेट के अंदर समा जाए सर्वहारा
हरि: ओं तत्सत हरि: ओम तत्सत [1969]

तीनों बंदर बापू के

बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के!
सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बंदर बापू के!
सचमुच जीवनदानी निकले तीनों बंदर बापू के!
ज्ञानी निकले, ध्यानी निकले तीनों बंदर बापू के!
जल-थल-गगन-बिहारी निकले तीनों बंदर बापू के!
लीला के गिरधारी निकले तीनों बंदर बापू के!

सर्वोदय के नटवरलाल
फैला दुनिया भर में जाल
अभी जिएँगे ये सौ साल
ढाई घर घोड़े की चाल
मत पूछो तुम इनका हाल
सर्वोदय के नटवरलाल

लंबी उमर मिली है, ख़ुश हैं तीनों बंदर बापू के
दिल की कली खिली है, ख़ुश हैं तीनों बंदर बापू के
बूढ़े हैं, फिर भी जवान हैं तीनों बंदर बापू के
परम चतुर हैं, अति सुजान हैं तीनों बंदर बापू के
सौवीं बरसी मना रहे हैं तीनों बंदर बापू के
बापू को भी बना रहे हैं तीनों बंदर बापू के

बच्चे होंगे मालामाल
ख़ूब गलेगी उनकी दाल
औरों की टपकेगी राल
इनकी मगर तनेगी पाल
मत पूछो तुम इनका हाल
सर्वोदय के नटवरलाल

सेठों का हित साध रहे हैं तीनों बंदर बापू के
युग पर प्रवचन लाद रहे हैं तीनों बंदर बापू के
सत्य अहिंसा फाँक रहे हैं तीनों बंदर बापू के
पूँछों से छवि आँक रहे हैं तीनों बंदर बापू के
दल के ऊपर, दल के नीचे तीनों बंदर बापू के
मुस्काते हैं आँखें मींचे तीनों बंदर बापू के

छील रहे गीता की खाल
उपनिषदें हैं इनकी ढाल
उधर सजे मोती के थाल
इधर जमे सतजुगी दलाल
मत पूछो तुम इनका हाल
सर्वोदय के नटवरलाल
मूँड़ रहे दुनिया-जहान को तीनों बंदर बापू के
चिढ़ा रहे हैं आसमान को तीनों बंदर बापू के
करें रात-दिन टूर हवाई तीनों बंदर बापू के
बदल-बदलकर चखें मलाई तीनों बंदर बापू के
गाँधी-छाप झूल डाले हैं तीनों बंदर बापू के
असली हैं, सर्कस वाले हैं तीनों बंदर बापू के
दिल चटकीला, उजले बाल
नाप चुके हैं गगन विशाल
फूल गए हैं कैसे गाल
मत पूछो तुम इनका हाल
सर्वोदय के नटवरलाल
हमें अँगूठा दिखा रहे हैं तीनों बंदर बापू के
कैसी हिक्मत सिखा रहे हैं तीनों बंदर बापू के
प्रेम-पगे हैं, शहद-सने हैं तीनों बंदर बापू के
गुरुओं के भी गुरु बने हैं तीनों बंदर बापू के
सौवीं बरसी मना रहे हैं तीनों बंदर बापू के
बापू को भी बना रहे हैं तीनों बंदर बापू के!

[1969]

तीन दिन, तीन रात

बस़-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात
लगता था, जन-जन की
हृदय-गति मंद थी
तीन दिन, तीन रात
प्राचार्य, ज़िलाधीश, एस. पी.
रहे सब परेशान
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात

गुम रहीं गतिहीन सड़कें
तीन दिन, तीन रात
पंक्तिबद्ध वृक्षों के
दिल भला क्यों नहीं धड़कें
तीन दिन, तीन रात
बस़-सर्विस बंद थी...

दस गुनी कमाई पर
ताँगा व रिक्शावाले
मस्त थे, मगन थे
तीन दिन, तीन रात
डूबे थे ताड़ी और दारू में
माटी के हज़ारों चुक्कड़
धुत्त थे, नगन थे
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात

ठप थी अदालतें
सस्ते थे वकील व मुख़्तार
तीन दिन, तीन रात
वीरान थे होटल

धीमी थी धुएँ की रफ़्तार
तीन दिन, तीन रात
सरकारी जीप-ट्रक
पीती रहीं पेट्रोल
तीन दिन, तीन रात
बस वाले पीते रहे
मालिकों की खीझ का
मुट्ठा और घोल
तीन दिन, तीन रात

बस के अड्डों पर
फ़ौज रही तैनात
तीन दिन, तीन रात
उड़ती रहीं अफ़वाहें
कटती रही हर बात
तीन दिन, तीन रात
विकल थी हकूमत
चिन्तित थे अधिकारी
तीन दिन, तीन रात
पूर्णिया टाउन में
कर्फ़्यू जारी
तीन दिन, तीन रात

तरुणों में गर्मी थी
लोग परेशान थे
तीन दिन, तीन रात
बस की लाश का
चिता-भस्म देख-देख
हम भी हैरान थे
तीन दिन, तीन रात
बस-सर्विस बंद थी
तीन दिन, तीन रात
तीन दिन, तीन रात
तीन दिन, तीन रात

प्रेत का बयान

''ओ रे प्रेत—''
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
—''सच-सच बतला!
कैसे मरा तू?
भूख से, अकाल से?
बुख़ार कालाजार से?
पेचिस बदहज़मी, प्लेग महामारी से?
कैसे मरा तू, सच-सच बतला!''

खड़ खड़ खड़ खड़ हड़ हड़ हड़ हड़
काँपा कुछ हाड़ों का मानवीय ढाँचा
नचाकर लंबे चमचों-सा पंचगुरा हाथ
रूखी-पतली किट-किट आवाज़ में
प्रेत ने जवाब दिया—

''महाराज!
सच-सच कहूँगा
झूठ नहीं बोलूँगा
नागरिक हैं हम स्वाधीन भारत के...
पूर्णिया ज़िला है, सूबा बिहार के सिवान पर
थाना धमदाहा, बस्ती रुपउली
जाति का कायथ
उमर कुछ अधिक पचपन साल की
पेशा से प्राइमरी स्कूल का मास्टर था

—''किन्तु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको
सावधान महाराज,
नाम नहीं लीजिएगा
हमारे समक्ष फिर कभी भूख का!!''

निकल गया भाफ आवेग का,
तदनंतर शांत-स्तंभित स्वर में प्रेत बोला—

''जहाँ तक मेरा अपना संबंध है,
सुनिए महाराज,
तनिक भी पीर नहीं
दु:ख नहीं, दुविधा नहीं
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला...''

सुनकर दहाड़
स्वाधीन भारतीय प्राइमरी स्कूल के
भुखमरे स्वाभिमानी सुशिक्षक प्रेत की
रह गए निरुत्तर
महामहिम नरकेश्वर।

[1950]

तकली मेरे साथ रहेगी

राजनीति के बारे में अब एक शब्द भी नहीं कहूँगा
तकली मेरे साथ रहेगी, मैं तकली के साथ रहूँगा
नहीं ज़रूरत रही देश में सत्याग्रह की, अनुशासन है
सही राह पर हाकिम हैं तो भली जगह पर सिंहासन है

संकट पहुँचा चरम बिन्दु पर, एक वर्ष तक रहा मौन मैं
नहीं पता चलता था बिलकुल, कौन आप हो, और कौन मैं
बहुत किया जब चिन्तन मैंने, तकली का तब मिला सहारा
आओ भाई, छोड़-छाड़कर राजनीति की सूखी धारा

सत्य रहेगा अंदर, ऊपर से सोने का ढक्कन होगा
चाँदी की तकली होगी, तो मुँह में असली मक्खन होगा
करनी में गड़बड़ियाँ होंगी, कथनी में अनुशासन होगा
हाथों में बंदूकें होंगी, कंधों पर सिंहासन होगा

तकली से तकलीफ़ मिटाओ, बाक़ी सब कुछ सहते जाओ
ख़ुद ही सब कुछ सुनते जाओ, ख़ुद ही सब कुछ कहते जाओ
ठंड लगे तो गुदमा ओढ़ो, भूख लगे तो मक्खन खाओ
राजनीति का लफड़ा छोड़ो, बस, बाबा पर ध्यान जमाओ

बीस सूत्र हैं, बस काफ़ी हैं, निकलें इनसे लाखों धागे
तुम आओगे पीछे-पीछे, मैं जाऊँगा आगे-आगे
चीफ़ मिनिस्टर पैर छुएँगे, शीश नवाएँगे आफ़ीसर
सवदय का जादू अबके नाचेगा शासन के सिर पर

आध्यात्मिकता पर बोलूँगा, बोलूँगा विज्ञान तत्व पर
राजनीति का ज़िक्र करूँगा थोड़ा-थोड़ा ऊपर-ऊपर
वही सुनूँगा याद रखूँगा जो मुझसे निर्मला कहेगी
लोगों से मिलने-जुलने का माध्यम मेरा वही रहेगी

शांति, शांति, संपूर्ण शांति बस, मेरा एक यही नारा
अपना मठ, अपने जन प्रिय हैं मुझको प्रिय अपना इकतारा
मुझको प्रिय है मैत्री अपनी, प्रिय है यह करुणा कल्याणी
अपने मौन मुझे प्यारे हैं, मुझ को प्रिय है अपनी वाणी

दुर्जन हैं जो हँसते होंगे, बाबा उन पर ध्यान न देता
बकवासों का अंत नहीं है, बाबा उन पर कान न देता
बता नहीं पाऊँगा यह मैं, मौन मुझे कितना प्यारा है
बता नहीं पाऊँगा यह मैं कौन मुझे कितना प्यारा है

आज वृद्ध हूँ, बचपन में था भोली माँ का भोला बालक
महा-मुखर था कभी, आज तो महा-मौन का हूँ संचालक
सब मेरे, मैं भी हूँ सबका, मेरी मठिया सबका घर है
आप और हम सब नीचे हैं, सबके ऊपर परमेश्वर है

राजनीति के बारे में अब एक शब्द भी नहीं कहूँगा
तकली मेरे साथ रहेगी, मैं तकली के साथ रहूँगा

[1975]

रहे गूँजते बड़ी देर तक

सुने इन्हीं के कानों से मैंने तुतलाहट में गीले बोल
तीन साल वाले बच्चों के प्यारे बोल, रसीले बोल:

"मेले नाम तेले नाम
बिएनाम बिएनाम
मेले नाम तेले नाम
बिएनाम बिएनाम!"

दंग रह गया सुनकर मैं तो वियतनाम का कीर्तन
दंग रह गए नयन, दिखे शिशुकर-चरणों के नर्तन
नई लगी मुझको श्रमिकों की बस्ती वही पुरानी
दमक रहा था शिशु-मुखड़ों पर तरुणाई का पानी
भूल गया जाने क्यों मुझको अपना दुसह बुढ़ापा
उनकी तुतलाहट से यह बासी स्वर अपना नापा।

उन बच्चों की ग्रीवाओं में रग-रग फूल रही थी
बाल दृगों में जाने कैसी आशा झूल रही थी
छोटी-छोटी झंडी थामे मुन्ने प्यारे-प्यारे
अग्रज पीढ़ी की अनुकृति में लगा रहे थे नारे:

"मेला नाम बिएनाम
तेला नाम बिएनाम
बिएनाम बिएनाम
बिएनाम बिएनाम!"

मैंने सोचा :
निर्भर होकर शोषण की बुनियादें यह खोदेंगे
मैंने सोचा :
बेबस बूढ़े विप्लवियों का कालिख यह धो देंगे
मैंने सोचा :
फिरकाबंदी—जातिवाद का झाड़ेंगे यह भूत
मैंने सोचा :
निबिड़ विषमता को मिटाएँगे
नवयुग के शिशु-दूत

रहें गूँजते बड़ी देर तक
इन कानों के अंदर
तुतलाहट में गीले बोल
प्यारे बोल, रसीले बोल :
''मेले नाम
तेले नाम
बिएनाम
बिएनाम!''

[1971]

हरिजन-गाथा

एक

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था!
महसूस करने लगीं वे
एक अनोखी बेचैनी
एक अपूर्व आकुलता
उनकी गर्भकुक्षियों के अंदर
बार-बार उठने लगी टीसें
लगाने लगे दौड़ उनके भ्रूण
अंदर ही अंदर
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था।

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि
हरिजन-माताएँ अपने भ्रूणों के जनकों को
खो चुकी हों एक पैशाचिक दुष्कांड में
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था...

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि
एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं—
तेरह के तेरह अभागे—
अकिंचन मनुपुत्र
ज़िन्दा झोंक दिए गए हों
प्रचंड अग्नि की विकराल लपटों में
साधन संपन्न ऊँची जातियों वाले
सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा!
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था...

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि
महज़ दस मील दूर पड़ता हो थाना
और दारोग़ा जी तक बार-बार
ख़बरें पहुँचा दी गई हों संभावित दुर्घटनाओं की

और, निरंतर कई दिनों तक

चलती रही हों तैयारियाँ सरे आम
(किरासिन के कनस्तर, मोटे-मोटे लक्कड़,
उपलों के ढेर, सूखी घास-फूस के पूले
जुटाए गए हों उल्लासपूर्वक)
और एक विराट चिताकुंड के लिए
खोदा गया हो गड्ढा हँस-हँसकर
और ऊँची जातियों वाली वो समूची आबादी
आ गई हो होली वाले 'सुपर मौज' के मूड में
और, इस तरह ज़िन्दा झोंक दिए गए हों

तेरह में तेरह अभागे मनुपुत्र
सौ-सौ भाग्यवान मनुपुत्रों द्वारा
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था…
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था…

दो

चकित हुए दोनों वयस्क बुज़ुर्ग
ऐसा नवजातक
न तो देखा था, न सुना ही था आज तक!
पैदा हुआ है दस रोज़ पहले अपनी बिरादरी में
क्या करेगा भला आगे चलकर?
रामजी के आसरे जी गया अगर
कौन-सी माटी गोड़ेगा?
कौन-सा ढेला फोड़ेगा?
मगहं का यह बदनाम इलाक़ा
जाने कैसा सलूक करेगा इस बालक से
पैदा हुआ है बेचारा—
भूमिहीन बँधुआ मज़दूरों के घर में
जीवन गुज़ारेगा हैवान की तरह
भटकेगा जहाँ-तहाँ बनमानुस-जैसा
अधपेटा रहेगा अधनंगा डोलेगा
तोतला होगा कि साफ़-साफ़ बोलेगा

जाने क्या करेगा
बहादुर होगा कि बेमौत मरेगा...
फ़िक्र की तलैया में खाने लगे गोते
वयस्क बुज़ुर्ग दोनों, एक ही बिरादरी के हरिजन
सोचने लगे बार-बार···
कैसे तो अनोखे हैं अभागे के हाथ-पैर
राम जी ही करेंगे इसकी ख़ैर
हम कैसे जानेंगे, हम ठहरे हैवान
देखो तो कैसा मुलुर मुलुर देख रहा शैतान!
सोचते रहे दोनों बार-बार···

हाल ही में घटित हुआ था वो विपाट दुष्कांड···
झोंक दिए गए थे तेरह निरपराध हरिजन
सुसज्जित चिता में···

यह पैशाचिक नरमेध
पैदा कर गया है दहशत जन-जन के मन में
इन बूढ़ों की तो नींद ही उड़ गई है तब से!
बाक़ी नहीं बचे हैं पलकों के निशान
दिखते हैं दृगों के कोर ही कोर
देती है जब-तब पहरा पपोटों पर
सील-मुहर सूखी कीचड़ की

उनमें से एक बोला दूसरे से
बच्चे की हथेलियों के निशान
दिखालाएँगे गुरु जी से
वो ज़रूर कुछ न कुछ बतलाएँगे
इसकी क़िस्मत के बारे में

देखो तो ससुरे के कान हैं कैसे लंबे
आँखें हैं छोटी पर कितनी तेज़ हैं
कैसी तेज रोशनी फूट रही है इनसे!
सिर हिलाकर और स्वर खींचकर,
बुद्धू ने कहा—

हाँ जी खदेरन, गुरु जी ही देखेंगे इसको
बताएँगे वही इस कलुए की क़िस्मत के बारे में
चलो, चलें, बुला लावें गुरु महाराज को···

पास खड़ी थी दस साला छोकरी
दद्दू के हाथों से ले लिया शिशु को
सँभलकर चली गई झोंपड़ी के अंदर

अगले नहीं, उससे अगले रोज़
पधारे गुरु महाराज
रैदासी कुटिया के अधेड़ संत गरीबदास
बकरी वाली गंगा-जमनी दाढ़ी थी
लटक रहा था गले से
अँगूठानुमा ज़रा-सा टुकड़ा तुलसी काठ का
क़द था नाटा, सूरत थी साँवली
कपार पर, बाईं तरफ़ घोड़े के खुर
का निशान था
चेहरा था गोल-मटोल, आँखें थी घुच्ची
बदन कठमस्त था···
ऐसे आप अधेड़ संत गरीबदास पधारे
चमर टोली में···

'अरे भगाओ इस बालक को
होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटाएँगे धरती से
इसके साथी और संघाती

'यह उन सबका लीडर होगा
नाम छपेगा अख़बारों में
बड़े-बड़े मिलने आएँगे
लद-लदकर मोटर-कारों में

'खान खोदने वाले सौ-सौ
मज़दूरों के बीच पलेगा
युग की आँचों में फ़ौलादी

साँचे-सा यह वहीं ढलेगा

'इसे भेज दो झरिया-फरिया
माँ भी शिशु के साथ रहेगी
बतला देना, अपना असली
नाम-पता कुछ न कहेगी

'आज भगाओ, अभी भगाओ
तुम लोगों को मोह न घेरे
होशियार, इस शिशु के पीछे
लगा रहे हैं गीदड़ फेरे

'बड़े-बड़े इन भूमिधरों को
यदि इसका कुछ पता चल गया
दीन-हीन छोटे लोगों को
समझो फिर दुर्भाग्य छल गया

'जनबल धनबल सभी जुटेगा
हथियारों की कमी न होगी
लेकिन अपने लेखे इसको
हर्ष न होगा, गमी न होगी

'सब के दुख में दुखी रहेगा
सबके सुख में सुख मानेगा
समझ-बूझ कर ही समता का
असली मुद्दा पहचानेगा

'अरे देखना इसके डर से
थर-थर काँपेंगे हत्यारे
चोर-उचक्के-गुंडे-डाकू
सभी फिरेंगे मारे-मारे

'इसकी अपनी पार्टी होगी
इसका अपना ही दल होगा
अजी देखना, इसके लेखे
जंगल में ही मंगल होगा

'श्याम सलोना यह अछूत शिशु
हम सब का उद्धार करेगा
आज यही संपूर्ण क्रांति का
बेड़ा सचमुच पार करेगा

'हिंसा और अहिंसा दोनों
बहनें इसको प्यार करेंगी
इसके आगे आपस में वे
कभी नहीं तक़रार करेंगी..'

इतना कहकर उस बाबा ने
दस-दस के छह नोट निकाले
बस, फिर, उसके होठो पर थे
अपनी उँगलियों के ताले

फिर तो बाबा की आँखें
बार-बार गीली हो आई
साफ सिलेटी हृदय-गगन में
जाने कैसी सुधियाँ छाई

नव शिशु का सिर सूँघ रहा था
विह्वल होकर बार-बार वो
साँस खींचता था रह-रह कर
गुमसुम-सा था लगातार वो

पाँच महीने होने आए
हत्याकांड मचा था कैसा!
प्रबल वर्ग ने निम्न वर्ग पर
पहले नहीं किया था ऐसा!

देख रहा था नवजातक के
दाएँ कर की नरम हथेली
सोच रहा था—इस ग़रीब ने
सूक्ष्म-रूप में विपदा झेली

आड़ी-तिरछी रेखाओं में
हथियारों के ही निशान हैं
खुखरी है, बम है, असि भी है
गंडासा-भाला प्रधान हैं

दिल ने कहा—दलित माँओं के
सब बच्चे अब बाग़ी होंगे
अग्निपुत्र होंगें वे, अंतिम
विप्लव में सहभागी होंगे

दिल ने कहा—अरे यह बच्चा
सचमुच अवतारी वराह है
इसकी भावी लीलाओं का
सारी धरती चारागाह है

दिल ने कहा—अरे हम तो बस
पिटते आए, रोते आए!
बकरी के खुर जितना पानी
उसमें सौ-सौ गोते खाए!

दिल ने कहा—अरे यह बालक
निम्न वर्ग का नायक होगा
नई ऋचाओं का निर्माता
नए वेद का गायक होगा

होंगे इसके सौ सहयोद्धा
लाख-लाख जन अनुचर होंगे
होगा कर्म-वचन का पक्का
फ़ोटो इसके घर-घर होंगे

दिल ने कहा—अरे इस शिशु को
दुनिया भर में कीर्ति मिलेगी
इस कलुए की तदबीरों से
शोषण की बुनियाद हिलेगी

दिल ने कहा—अभी जो भी शिशु
इस बस्ती में पैदा होंगे
सब के सब सूरमा बनेंगे
सब के सब ही शैदा होंगे

दस दिन वाले श्याम सलोने
शिशु मुख की यह छटा निराली
दिल ने कहा—भला क्या देखें
नज़रें गीली पलकों वाली

थाम लिए विह्वल बाबा ने
अभिनव लघु मानव के मृदु पग
पाकर इनसे परस जादुई
भूमि अकंटक होगी लगभग

बिजली की फुर्ती से बाबा
उठा वहाँ से, बाहर आया
वह था मानों पीछे-पीछे
आगे थी भास्वर शिशु-छाया

लौटा नहीं कुटी में बाबा
नदी किनारे निकल गया
लेकिन इन दोनों को तो अब
लगता सब कुछ नया-नया था

तीन

'सुनते हो' बोला खदेरन
'बुद्धू भाई देर नहीं करनी है इसमे
चलो, कहीं, बच्चे को रख आवें···
बतला गए हैं अभी अभी
गुरु महाराज,
बच्चे को माँ-सहित हटा देना है कहीं
फ़ौरन बुद्धू भाई!'···

बुद्धू ने अपना माथा हिलाया
खदेरन की बात पर
एक नहीं, तीन बार!
बोला मगर एक शब्द नहीं
व्याप रही थी गंभीरता चेहरे पर
था भी तो वही उम्र में बड़ा
(सत्तर से कम का तो भला क्या रहा होगा!)
'तो चलो!
उठो फ़ौरन उठो!
राम की गाड़ी से निकल चलेंगे
मालूम नहीं होगा किसी को
लौटने में तीन-चार रोज़ तो लग ही जाएँगे···

'बुद्धू भाई तुम तो अपने घर जाओ
खाओ, पियो, आराम कर लो
रात में गाड़ी के अंदर जागना ही तो पड़ेगा··
रास्ते के लिए थोडा चना-चबेना जुटा लेना
मैं इत्ते में करता हूँ तैयार
समझा-बुझाकर
सुखिया और उसकी सास को···'

बुद्धू ने पूछा, धरती टेक कर
उठते-उठते—
'झरिया, गिरिडीह, बोकारो
कहाँ रखोगे छोकरे को?
वहीं न? जहाँ, अपनी बिरादरी के
कुली-मजूर होंगे सौ-पचास?
चार-छै महीने बाद ही
कोई काम पकड़ लेगी सुखिया भी···'
और, फिर अपने आप से
धीमी आवाज़ में कहने लगा बुद्धू
छोकरे की बदनसीबी तो देखो
माँ के पेट में था तभी इसका बाप भी

झोंक दिया गया उसी आग में…
बेचारी सुखिया जैसे-तैसे पाल ही लेगी इसको
मैं तो इसे साल-साल देख आया करूँगा
जब तक है चलने-फिरने की ताक़त चोले में…
तो क्या आगे भी इस कलुए के लिए
भेजते रहेंगे खर्ची गुरु महराज?…

बढ़ आया बुद्धू अपने छप्पर की तरफ
नाचते रहे लेकिन माथे के अंदर
गुरु महाराज के मुँह से निकले हुए
हथियारों के नाम और आकार-प्रकार
खुखरी, भाला, गंडासा, बम, तलवार·
तलवार, बम, गंडासा, भाला, खुखरी··

[1977]

इन सलाख़ों से टिकाकर भाल

इन सलाख़ों से टिकाकर भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल
और भी तो पकेंगे कुछ बाल
जाने किसकी / जाने किसकी
और भी तो गलेगी कुछ दाल
न टपकेगी कि उनकी राल
चाँद पूछेगा न दिल का हाल
सामने आकर करेगा वो न एक सवाल
मैं सलाख़ों में टिकाए भाल
सोचता ही रहूँगा चिरकाल

[1976]

मेरी भी आभा है इसमें

नए गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड आज तो दमक रहा है
मेरी भी आभा है इसमें

भीनी-भीनी ख़ुशबूवाले
रंग-बिरंगे

यह जो इतने फूल खिले हैं
कल इनको मेरे प्राणें ने नहलाया था
कल इनको मेरे सपनों ने सहलाया था

पकी सुनहली फ़सलों से जो
अबकी यह खलिहान भर गया
मेरी रग-रग के शोणित की बूँदे इसमें मुसकाती हैं

नए गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड आज जो दमक रहा है
मेरी भी आभा है इसमें

[1961]

मैथिली कविताएँ

अंत श्रावण केरि ई मेघ

बरिसइत रहओ अहिना
भरि दिन, भरि राति
अंत-श्रावण केर ई मेघ
भिजबइत रहओ अहिना
कमतिओ ज'न-ज'नीक गत्र गत्र
अंत श्रावण केर ई मेघ
सुनइत रहओ अहिना
रिक्शावला इसखी छओँड़ा क गारि
अंत श्रावण केर ई मेघ
लोकोक कनवहि मे
अर्ध दग्ध ऊपर फॉट्ट कोइला बिछइत
आयत ऑखिवाली मंथाल-छॅउड़ीक उपराग
सेहो सुनइत रहओ अहिना
अंत श्रावण केर ई मेघ
तितबइत रहउ अहिना
तीसी तेलक चिकनाओल ओकर खोपा
अंत श्रावण केर ई मेघ

अंत-श्रावण का यह मेघ

बरसता रहे इसी तरह
दिन भर, रातभर
अंत-श्रावण का यह मेघ
भिगोता रहे इसी तरह
खेतिहर मज़दूर-मज़दूरनियों के अंग अंग
अंत-श्रावण का यह मेघ
सुनता रहे इसी तरह
रिक्शावाला दिलफेंक छोकरी की गाली
अंत-श्रावण का यह मेघ
लोको के आस पास
अर्द्धदग्ध छिटके-फिंके कोयले चुनती
आयत आँखोंवाली छोकरी का उलाहना भी
सुनता रहे इसी तरह
अंत-श्रावण का यह मेघ
तर-ब-तर करता रहे इसी तरह
अलसी के तेल से चिकनाया उसका जूड़ा
अंत-श्रावण का यह मेघ

पाकल अछि ई कटहर!

चाबश! चाबश! चाबश!!
एह, केहेन दीब पाकल अछि ई कटहर
एह, कती टा अछि ई कटहर
एह, केहन गम-गम करइत अछि ई कटहर
एह, कोना अपनहि खसल गाछसँ
एह, कोन तरहेँ पड़ल अछि छहोछित भ' कँ
एह, कोना लुबधल छलह अइ ले लोकक मोन
एह, केहेन, दीब पाकल अछि ई कटहर

पैघ-पुरान गाछक, एकमात्र ई सौंसे कटहर
फड़ल सहजहिँ प्रकृतिक प्रतापेँ
जोआएल सहजहि प्रकृतिक प्रतापेँ
पालक सहजहिँ प्रकृतिक प्रतापेँ
खसल ओहिना
ओहिना भेल उपलब्ध हमरा लोकनि कँ
आउ, आउ! अओ बिलाँ, इबइत जाउ
एकहक कोऽ, दू-दू कोऽ अबस्से लेले जाओ
एहेन अपूर्व एजबी कोऽ भेटत नहिए अंतऽ
हमरा लोकनि पाबि रहल छी प्रसाद अपनहुँ
परसि लेल अछि एक दोसराक समक्ष
एक कोऽ, आधा कोऽ तेहाइ कोऽ
आउ, आउ! अबइ जाउ अओ बिलाँ...
हे लिअऽ, हे लिअऽ, हे लिअऽ
की कहल? कने जोरसँ कहू!
की कहल? की कहल?
निँघटत नहि की ई कटहर?
आओर कते बिहलब ई कटहर?
अहँऽ, अहँऽ एखन नहि निँघटत
आउ, आउ, देखिअउ ने अपनहि आँखिएँ
सुगंध त लगले हैत!
आउ, आउ, एक रती पाबि लिअऽ
महाकालीक ई अपूर्व प्रसाद

पका है यह कटहल!

शाबास! शाबास! शाबास!!
अह्, क्या ख़ूब पका है यह कटहल
अह्, कितना बड़ा है यह कटहल
अह्, कैसा मह-मह करता है यह कटहल
अह्, कैसे ख़ुद ही गिर पड़ा गाछ से
अह्, किस तरह पड़ा है चारों खाने चित्त
अह्, कैसा लटका था लोगों का मन इसके ऊपर
अह्, क्या ख़ूब पका है यह कटहल

पुराने बड़े गाछ का एकमात्र यह पूरा कटहल
फला सहज ही प्रकृति के प्रताप से
जुआया सहज की प्रकृति के प्रताप से
पका सहज ही प्रकृति के प्रताप से
गिरा उसी तरह
उसी तरह हुआ उपलब्ध हम लोगों को
आओ, आओ! अजी ओ फलाँ, आते जाओ
एक-एक कोआ, दो-दो कोए अवश्य लेते जाओ
ऐसा अपूर्व असली कोआ नहीं मिलने का कहीं और
हम लोग ख़ुद भी पा रहे हैं प्रसाद
परोस लिए हैं एक दूसरे के आमने-सामने
एक कोआ, आधा कोआ, तिहाई कोआ
आओ, आओ! आते जाओ अजी ओ फलाँ ..
यह लो, यह लो, यह लो
क्या कहा? जरा ज़ोर से कहो!
क्या कहा? क्या कहा?
नहीं सधेगा क्या यह कटहल?
और कितना बाँटोगे यह कटहल?
अहा, अहा, अभी नहीं सधेगा
आओ, आओ, देखो न अपनी ही आँखों
सुगंध तो लगी ही होगी!
आओ, आओ, थोड़ा-सा पा लो
महाकाली का यह अपूर्व प्रसाद

शताब्दीक बादे भेटइ छइ लोक कँ
आउ, आउ, अओ बिलाँ,
माताक प्रसाद थिकइन
निंघटतइ नहिए...
आउ, आउ, अओ बिलाँ
ग्रहण करू सुचित भ' क' प्रसाद
कान कैं होमऽ दिअउ पवित्र
प्रसाद-ग्रहण करितहिं सुनबामें आओत
एकटा अद्‌भुत, एकटा अश्रुतपूर्व मंत्र...
''अकाली...
काली...
कंकाली...
महाकाली...
विकाली...
सकाली...
ला रे अभगला,
बढ़ा अप्पन गर्दनि
पड़ऽ दही ओइ पर
हम्मर कत्ता, हम्मर भुजाली
एम्हर देख, एम्हर देख, करमजरुआ
कतऽ देखने हेबही ई रूप मुंडमाली
क्लीं क्लीं क्लूं क्लूं
ऐं ह्री हूँ आँ हौं
खच् खच् खच् खचाक्
ल'ग आ, निच्चाँ ताक्
खच् खच् खच् खचाक्
ला रे अभगला, बढ़ा अप्पन गर्दनि
तोरा सभक मूँड़ी छोपबउ हनि हनि
आ रे अभगला!
आ रे कोढ़िया!
ऐं ह्रीं आं हौं
क्लीं क्लीं हूँ हूँ''

इहौं प्रसाद जनि अपने अओ बिलाँ।

शताब्दी के बाद ही मिला है लोगों को
आओ, आओ, अजीओ फलाँ
माता का प्रसाद है यह
नहीं ही होगा समाप्त...
आओ, आओ, अजी ओ फलाँ
शुचिभाव से ग्रहण करो प्रसाद
कान को होने दो पवित्र
प्रसाद ग्रहण करते ही सुनने में आएगा
एक अद्भुत, एक अश्रुतपूर्व मंत्र...
''अकाली...
काली...
कंकाली...
महाकाली...
विकाली...
सकाली...
लारे अभागे
बढ़ा अपनी गरदन
पड़ने दे उस पर
मेरी काता, मेरी भुजाली
इधर देख, इधर देख, करम-हीन!
कहाँ देखा होगा यह रूप, मुड़माली
क्लीं क्लीं क्लूं क्लूं
ऐं ह्रीं हूँ आँ हौं
खच् खच् खच् खचाक्
पास आ, नीचे ताक्
खच् खच् खच् खचाक्
लारे अभागे, बढ़ा अपनी गरदन
तुम सभी के सर उड़ाऊँ हन-हन
आ रे अभागे!
आ रे कोढ़ी!
ऐं ह्रीं आँ हौं
क्लीं क्लीं हूँ हूँ''

आप डर कर भाग नहीं जाना, अजी ओ फलाँ!

आइ काल्हि ओ मंत्र काज कहाँ करइ छह
उनटि गेलइए अर्थ
आउ आउ, लिअऽ माताक प्रसाद...
अकालक प्रसाद
दुर्भिक्षक प्रसाद
अहिना केने रहथि प्राप्त
अहाँक प्रपितामह-प्रमातामह
बाबाक बाबाक बाबा, नानाक नानाक नाना
आउ आउ, अलो बिलाँ
लिलऽ लिअऽ प्रसाद प्रलयंकारी माताक
अमेरिकाक दलिया, कनाडाक दुद्धी पाउडर
ने जानि कतऽ कतऽ क स्वाद
समेटने अछि अपना भीतर!
अपूर्व लागत अहाँ केँ ई कटहर
आउ आउ, पाबि लिअऽ छोड़ि-छाड़ि डर-भर
शुद्ध सनातनी, निर्लिप्त निरंजन
सुच्चा महापात्र हमरा लोकनि
अगबे कंटाह, नहि नहि, अगबे अघोरी!
तहू पर ई की तऽ कालीमाइक प्रसाद थीक...
एकर अभेला जुनि करिअउ!
आउ आउ, लं लिअऽ एक रती...
केहेन दिव्य ई दुर्दैवी कटहर!!

आजकल वह मंत्र कहाँ काम करता है
उलट गया है अर्थ
आओ, आओ, लो माता का प्रसाद...
अकाल का प्रसाद
दुर्भिक्ष का प्रसाद
इसी तरह किया था प्राप्त
तुम्हारे परदादा-परनाना ने
दादा के दादा के दादा, नाना के नाना के नाना ने
आओ, आओ, अजी ओ फलाँ,
लो लो प्रसाद प्रलयंकारी माता का
अमरीका का दलिया, कनाडा का दुद्धी-पाउडर
कौन जाने, कहाँ कहाँ का स्वाद
समेटे है अपने भीतर
अपूर्व ही लगेगा तुम्हें यह कटहल
आओ, आओ, ग्रहण कर लो, छोड़ सभी डर-भय
शुद्ध सनातनी, निर्लिप्त निरंजन
असली महापात्र हम लोग
विशुद्ध श्राद्ध कराने वाले ब्राह्मण, विशुद्ध अघोरी!
उस पर भी क्या, यह कालीमाई का प्रसाद है
इसकी अवहेलना मत करो!
आओ, आओ ले लो थोड़ा सा...
कैसा दिव्य, यह दुर्दैवी कटहल!!

कइए देलकइए गोल

हॉजक हॉज छउँड़ी सभ खेलाइत अछि बास्केट बाल
चउरंगीक रमना...
सुविस्तृत मैदान .
रविक जड़काला अपराह्न..
मित्रलाभें प्रमुदित, परस्पर विनोदलीन
हमरा लोकनि तीनि गोटें
देखइ छी फुर्तीबाज तरुणीवृन्दक क्रीड़ा-कौतुक
दू रंगक परिधानें दू हांज में विभक्त---
एंग्लो-इंडियन छउँड़ीसभ
छरपइए, कुदइए, बॉल पर लुधकइए
लचलइछ दहिना-बामा.
हे लिअ' हे लिअ' कइए देलकइ गोल
वाह रे वाह, कॉकोड़केशी कुइरी-पतरकी छउँड़ी!!

गोल कर ही डाला

झुंड बाँधे छोकरियाँ खेल रही हैं बास्केटबॉल
चौरंगी का रमना
सुविस्तृत मैदान
रविवारीय शरद् का अपराह्न
मित्रलाभवश प्रमुदित, परस्पर विनोदलीन
हम तीन जने
देख रहे हैं फुर्तीली तरुणियों के क्रीड़ा-कौतुक
दो रंगों के परिधान में, दो झुंड में विभक्त
एंग्लो-इंडियन छोकरियाँ
फलाँगती, फाँदती, बॉल पर टूटती हुई
बचाती हुई दायाँ-बायाँ
यह लो, यह लो गोल कर ही डाला
वाह री वाह, केंकड़ा-बालोंवाली भूरी आँखोंवाली पतली छोरी!

जूनि अबउ भरि रति मेल ट्रेन

बइसल बइसल मेल ट्रेनक प्रतीक्षामेँ
बहार भए गेल आँखिक सूत
घंटा भरि लेट
आधा घंटा आओर लेट
पैंतालीस मिनट आओर लेट...
आहि रे दैव, की भेलहु तोरा?
कइएक खेप फोड़ल आङुर
कइएक बेर भेल हाफी
चाटि गेल छी मुल्की मैगजीन
सुड़ुकि आएल छी सात कप चाह
सोँटि लेल अछि दू पाकिट सिगरेट
आहि रे दैव, आब की करू?
रङल-टीपल पेटारक भरेँ ओठङलि
दुरगमनिया कनिआ
सूतलि अछि कि जागलि
घोघक अ' ढ़ तर!
व' र मुदा कटइ छइ फोँफ
करिआ कंबल पर ठामहि
सामान रखने अहि सँइति सिरमादिश
कए रहलइए अइहबक ओगरबाहि
सूति-पातिवाली अधवएसू लोकदिन
लाल पाढ़िक पीअर साड़ी पहिरने...
माङुर सन एनमेन ओकरा देहक कांति
लगइए केहेन दिब
आब किए बहरैत आँखिन सूत
जूनि अबउ मेल ट्रेन भरि राति!

न आए रातभर मेलट्रेन

बैठा बैठा मेलट्रेन की प्रतीक्षा में
बाहर निकल आए हैं आँखों के डोरे
घंटा भर लेट
आधा घंटा और लेट
पैंतालीस मिनट और लेट
आह रे विधाता, क्या हुआ तुझे?
कई दफ़ा चटखाईं उँगलियाँ
कई बार आई जँभाई
चाट गया अनेकों मैगजीनें
सुड़क आया हूँ सात कप चाय
खींच गया हूँ दो पाकिट सिगरेट
आह रे विधाता, अब क्या करूँ?
रँगी-रची पेटी से उँगठी
गौना कराई दुलहन
सोई है या जगी
घूँघट की आड़ में!
लेकिन दूल्हा भर रहा है खर्राटे
पास ही काले कंबल पर
सिरहाने सैंतकर सामान
इनकी रखवाली कर रही है
सिक्कों की माला और पत्तीदार बाजूबंद पहने
दुलहन की अर्द्धवयस्क नौकरानी
लाल किनारी की पीली साड़ी में
बिलकुल मांगुर मछली-सी है उसकी देह की कांति
लगती है कितनी अच्छी
अब क्यों निकलेंगे आँखों के डोरे
न आए रातभर मेलट्रेन!

बाङ्ला कविताएँ

आमि मिलिटारिर बुड़ो घोड़ा

आमि
मिलिटारिर बुड़ो घोड़ा
आमाके ओरा कोरबे निलाम
कोनो चतुर टाँगावाला
निये जाबे आमाके
बोसिए देबे चोखेर धारे
रंगीन खोलश
बलते थाकबे :
सामने चल बेटा
सामने चल
सामने

मैं मिलिट्री का बूढ़ा घोड़ा

मैं
मिलिट्री का बूढ़ा घोड़ा
करेंगे वे मुझे नीलाम
कोई चतुर ताँगावाला
ले जाएगा मुझे
चढ़ा देगा आँखों के किनारे
रंगीन आवरण
और कहता रहेगा :
        सामने चल बेटा
        सामने चल...
        सामने...

[27.9.78]

काव्य शिशु

भूमिष्ठ हलो
आमार काव्य शिशु
निशूति रात्र
केउकि शुनेछे ओर क्रंदन
केउकि शुनेछे ओर आर्तनाद
आमि निजेई एइ नवजात केर धात्री
आमि निजेई एइ नवजात केर जननी
भूमिष्ठ हयेछे
आमार काव्य शिशु
निशूति रात्रे!

[10.7.78]

काव्य शिशु

जन्म लिया
मेरे काव्य शिशु ने
गहन रात्रि में
क्या किसी ने सुना उसका क्रंदन
क्या किसी ने सुना उसका आर्त्तनाद
मैं स्वयं ही इस नवजात की धात्री
मैं स्वयं ही इस नवजात की जननी
जन्म लिया है
मेरे काव्य शिशु ने
गहन रात्रि में!

[10.7.78]

पाथरेर शिल्प

उनबिंशो शताब्दीर
बोने दी बुर्जुआर
साजानो बागान बाड़ीर
प्रकांडो बारान्दाय
सारिबद्धो ओइ नग्नो प्रतिमागुलि
कि जे मनोरम
कि जे अपरूप
आमि बोका
आमि अभागा
आमि आस्तो बड़ो गाधा
ताइतो जानि ना आजिओ
ओइ पाथुर शिल्पो सृष्टिर
सम्मुच्चयेर आदि स्त्रष्टार नाम!
आमार अग्रज
काव्यरसिक श्री श्री बालकृष्ण व्यास
महानुभाबेर काछे
सबे मात्रो सुनेछि
ओ गुलि इतालीय कलाकृतिर
चरम निदर्शन...
अथोचो शलभ श्री रामसिंह
एवं शंकर माहेश्वरी मते
ओगुलि होच्छे फ्रेंच भास्कर्येर चुड़ांतो प्रोतिफलन
आज्ञे, आमि कि भाब छि...
से जे कि बोल बो...
आमि तो एक बारेइ मूक
अथोचो स्वीकार कोरबो
प्रभाव मात्र

प्रतयोह सकाले-सकाले
परिक्रमा कोरि एका-एका
ओइ बागान बाड़िर

पथरीला शिल्प

उन्नीसवीं शताब्दी की
कुलीन बुर्जुआ के
सुसज्जित बगीचे वाले कोठों के
विशाल बरामदे में
पंक्तिबद्ध वे नग्न प्रतिमाएँ
कितनी मनोरम
कितना अपरूप
मैं मूर्ख
मैं अभागा
मैं बहुत बड़ा गधा
इसीलिए तो अब तक नहीं जानता
उस पथरीली शिल्प सृष्टि समुच्चय के
आदि स्रष्टा का नाम!
मेरे अग्रज
काव्य रसिक श्री श्री बालकृष्ण व्यास महानुभाव से
अभी सुना है
वह इस इतालवी कलाकृतियों के
हैं चरम निर्देशन
जबकि शलभ श्री रामसिंह
एवं शंकर माहेश्वरी के मतानुसार
वह सब फ्रेंच मूर्ति शिल्प के
चरम प्रतिफलन हैं
जी, क्या सोच रहा हूँ मैं
क्या बताऊँ...
एकदम बन गया मूक मैं तो
जबकि स्वीकारना ही है
प्रभाव
प्रत्येक सुबह
परिक्रमा करता हूँ अकेले अकेले
उस बगीचेवाली
कोठी की

खोला चोखे अबलोकन कोरि
ओइ नग्न प्रीतिमा गुलिर सौन्दर्य
एइ बुड़ोर मन-प्राण के
भीषण भालो लागे ओ गुलि!

[13.3.79]

खुली आँखों से देखता हूँ
उन नग्न प्रतिमाओं का सौन्दर्य
इस बूढ़े मन-प्राण को
बहुत भाते हैं!

[13.3.79]

संस्कृत कविताएँ

(संकलन, अनुवाद : राधावल्लभ त्रिपाठी)

हैमी पार्वती

तारुण्यात् पूर्वमेव प्रथितविजयिनां अग्रणीः कार्तिकेयः,
स्तीक्ष्णप्रज्ञश्च विश्वे वितरति प्रतिभां बालको दारणास्यः।
तातस्याधितयकासु प्रमुदित वदना कान्तसांनिघ्तुष्टा,
निद्रात्येणा मृडानी तुहिनविततिभिः प्रावृनेवा समन्ततात्।।

[10.07.1982]

हैमी पार्वती

पहला लड़का कार्तिकेय तो
युवा होने के पहले ही
बड़ा सेनानी बन गया है
समर जीतकर आने वालों में
उसका सबसे पहले नाम गिना जाता है
दूसरा लड़का गजानन तो वैसे भी
तेज़ बुद्धि का ठहरा, वह भी अब है
सारी दुनिया का बुद्धिविधाता।
पिता के पर्वत प्रदेश में प्रमुदित रहती है
पाकर प्रिय का प्रेम, तुष्ट बनी वह
बर्फ़ानी चादर ताने सिर ढँककर
सोयी रहती है उमा मृडानी।

[10.07.1982]

लेनिनस्मृति :

स्थापितोऽसि शवाधान्यां स्फटिके पारदर्शिके।
शयानेऽपि हि जागर्षि भास्वरे तव लोचने।
अपि कौशेयनिचिता: स्वर्णवर्गाङकिता अपि।
सूक्तवस्तव रोदन्ति दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता:।।
त्वामाजुहाव प्रथमं मानवी कर्मपद्धति:।
धूमायिता दार्शनिकै: पिच्छिला तु पुरोहितै।।
गगनं गगनाकारं सागर: सागरोपम:।।
जार्जलेनिनयोर्द्वन्द जार्जलेनिनयोरिव।।
क्षत्रपा: कामयन्ते स्म मिथो ध्वस मिथ: क्षयम्।
तत्र त्वया संघटित सफलं क्रान्तिघोषणम्।।
दु:शासना: प्रमथिता: कंसा नैर्वश्यमापिता:।
पाटच्चरा: कुवलयापीडा निर्वलयीकृता:।।
हिंसा प्रक्षालिता तद्वदहिंसापि विशोधिता।
कूटनीतिस्तव स्फीता सा श्रिये चामृताय च।।

लेनिनस्मृति

स्फटिक के पारदर्शी
कफ़न में तुम्हें रख दिया गया है।
सो गए हो तुम भीतर
फिर भी जाग रहे हो
अभी भी ज्योति जल रही है उन आँखों की
आज रेशमी बैनर के ऊपर स्वर्णाक्षर में अंकित होकर
पर दुर्व्याख्याओं के विष से मुरझाए
रोते हैं वे शब्द
कहे जो तुमने।
दर्शनशास्त्री के चिन्तन से धूमायित
और पुरोहित के कर्मकांड से पिच्छिल
मानव के उस कर्म मार्ग ने
पहले-पहले तुम्हें पुकारा।
आकाश का आकार है केवल आकाश सरीखा
और सागर है बस सागर के जैसा
लेनिन और जार्ज के बीच समर भी
है बस लेनिन और जार्ज के जैसा
क्षत्रप चाह रहे थे
आपस में लड़ लड़कर मिट जाना
उनके बीच पहन कर उभरे
सफल क्रांति तुम एक बारा।
मथ डाले दुःशासन
कंस बना डाले निर्वंश
कुवलयापीड से
बड़े-बड़े पागड़ वालों के
पग्गड़ उतार कर गिरा गिरा डाले तुमने
हिंसा का करके प्रक्षालन
अहिंसा का भी कर पाए सच्चा शोधन
ऐसी थी स्फीत तुम्हारी कूटनीति वह
अमृत और श्री बरसाने वाली।

चिनार-स्मृतिः

वासन्ती कनकप्रभा प्रगुणिता
पीतारुणैः पल्लवैः
हेमाम्भोजविलासविभ्रमरता
दूरे द्विरेफाःस्ता
यैशसण्डलकेलिकाननकथा
विस्मरिता भूतले
छायाविभ्रमतारतम्यतरलाः
ते ऽमी "चिनार" द्रुमाः।।
तारुण्येश्लथलम्बमानशिथिलै दीर्घायिते यौवने
वार्धक्ये सुचिरायितं च किमु ते स्यादशिषां राशिभिः
पीत्वा वर्षशतानि तानि चणकार्णावामृतस्यानिशं
सत्यं ब्रूहि "चिनार" जीवति न वा कश्चिद् वयस्यस्तव:

चिनार-स्मृति

वासंती स्वर्णिम आभा
दूनी हो आई है
पीली लाल कोंपलों से।
दूर दूर रहते हैं इनसे
स्वर्णकाल के विभ्रम में भरमाए
भौंरे।
नंदनवन का विहार
भूतल पर भुला दिया करते जो
छाया घटती बढ़ती झिलमिल
जिनका हिलना चंचल और तरल
उन्हीं चिनारों को मैंने
अडिग खड़े देखा है।
चुकने को आती नहीं तरुणाई
बीतता नहीं है यौवन/बीतता है समय
बुढ़ौती भी तो चिरकाल तक ही चलेगी यह
क्या अमृत के प्याले पर प्याले पी डाले
बीतते गये बरस पर बरस और तुम खड़े रहे
सच बतलाओ चिनार
कोई मित्र तुम्हारा क्या जीवित अभी बचा है!

नागार्जुन का गद्य

आईने के सामने

मुझे तुम पर बेहद गुस्सा आ रहा है, राकेश, तुमने मेरे सामने आईना रख दिया है! जाने कहाँ से ले आए हो यह आईना! इस तरह का शीशा तो आज तक कहीं देखा नहीं...!

एक तो यों ही मैं 'ख़ूबसूरत' हूँ, मगर इस मायावी दर्पण ने तो मुझे और भी 'ख़ूबसूरत' बना दिया है।

वो देखो, तुम्हारे इस आईने में मेरी नाक किस क़दर छोटी दिखाई दे रही है! वो देखो, मेरा दंभी साहित्यकार अंदर-ही-अंदर कितना घबरा उठा है! उसने आँखें मीच ली हैं, नहीं देखेगा अपने प्रतिरूपों की तरफ़...कहीं, किसी कुतूहल का शिकार होने पर ही नीलाम का यह अनूठा माल तुम्हारी तक़दीर से चिपक गया होगा—आईना नहीं है, काल भैरव का डंडा है यह! पिछले ढाई-तीन हफ़्तों मेरा पीछा किया है शैतान ने। परिव्राजकाचार्य, सिद्ध-शिरोमणि, महामहिम श्री श्री 108 श्रीमान नागा बाबा ने तुम्हारे इस जादुई दूत को कई दफ़े बरगलाना चाहा, किन्तु यह जो सिंहासन बत्तीसी और बैताल पचीसी के चरित-नायकों से कहीं अधिक ज़िद्दी, कहीं अधिक बलवान, कहीं अधिक विनम्र और कहीं अधिक टैक्टफुल निकला!

परसों शाम को मैं नरीमन प्वाइंट तक चला गया। यों ही। समुद्र ख़ूब तरंगित नहीं था, पूस की पूर्णिमा कब पड़ती है?...निर्णय सागर वाला छोटा पंचांग लेकर रखा तो था, किताबों-पत्रिकाओं के ढेर में जाने कहाँ खो गया! बंबई के अति आधुनिक कैलेण्डरों पर खीज उठी—साले पूर्णिमा तक का पता नहीं चलने देते! बंबई न हुआ, लंदन-न्यूयार्क हो गया! हाय रे कलकत्ता...पूर्णिमा कब पड़ती है?

समुद्र आज ख़ूब तरंगित नहीं है। क्यों नहीं आज समुद्र ख़ूब तरंगित? आसमान की ओर निगाहें उठाऊँ?...अधूरा चाँद कच्ची शाम का भास्वर फीकापन, खुला, नीला अंतरिक्ष...आज एकादशी या द्वादशी होगी, तीन-चार रोज़ बाद भरा-पूरा चाँद दिखेगा। तरंगित समुद्र देखना हो तो तीन-चार दिन बाद आओ।

"सेठ, नारियल पिएगा।"

"नहीं पिएगा।"

"आठ आना, सेठ..."

"नहीं।"

"पनतालिस नवा पैसा, सेठ..."

''तेरा दिमाग़ है कि कद्दू है? सेठ, सेठ, सेठ, सेठ, सेठ, सेठ, सेठ्ठिस! सेट्ठुस! सेट्ठीस कहीं का!''

''नारियल नई पीयेंगा, तो नई पीयेंगा, हमको गाली क्यूँ देंगा, सेठ?''

अब उस दक्षिण भारतीय फेरी वाले पर मेरा हृदय द्रवित होने लगा। लगा कि मैंने उसे नाहक अपने आक्रोश का निशाना बना लिया—ज़हर में बुझे हुए इंगित और आक्रमण की मुद्राएँ तो खुरदरे शब्दों में कई गुना अधिक पैनापन भर देते हैं! क्या क़सूर था ग़रीब का? उसने तुम्हें 'सेठ' कहकर पुकारा, यही कि और कुछ? लो, अब तुम भी उसे 'सेठ' कहकर पुकारो। देखो, वह तो बिलकुल बदल गया! उजले-धुले दाँतों की दूधिया झलक उसके श्यामल मुखमंडल को दिव्य संकेतों का एलबम बना देगी। अब एक नारियल तो तुम्हें पी ही जाना होगा!

इशारे से मैंने नारियल ले लिया और खड़े-खड़े ही पीने लगा।

दो घूँट लेकर गरदन और ऊपर हटा ली और फिर से नारियल के अंदर झाँका...

अरे, यहाँ तो अपनी समूची नाक ग़ायब है!...तो राकेश वाला आईना आसानी से पिण्ड नहीं छोड़ेगा मेरा! बच्चू, जाओगे कहाँ। इस मुग़ालते में न रहना कि बाबा हो, औघड़ हो, बावन घाट का पानी पी चुके हो! यह कोई मामूली खिलवाड़ नहीं है, भिड़ंत है दो अवधूतों की। एक भी पीछे हटने का नाम नहीं लेगा, दोनों साँड़ों के चारों सींग ठूँठ हो जाएँगे। दुनिया तालियाँ पीटेगी और तमाशा देखती रहेगी। अभी तो ख़ैर नाक ही ग़ायब दीखती है, आगे धड़-ही-धड़ शेष नज़र आएगा। हो सकता है कि आदिकाव्य (रामायण) के मुंड-विहीन उस अभिशप्त राक्षस (कबंध) की तरह आगे चलकर तुम भी किसी अवतारी महामानव की प्रतीक्षा में सदियों तक यों ही डोलते फिरो!

एक ही साँस में बाक़ी पानी पीकर मैंने नारियल का खोखा समुद्र में फेंक दिया, तो फेरी वाला बोला—अंदर का मलाई नई खाया, सेठ?

—फिर सेठ-सेठ! अरे भाई, सभी को सेठ मत कहा करो...।

—क्या कहेगा?

—भाई कहो, कोई बुरा नहीं मानेगा।

—नई सा'ब, भाई कहने से बी नई चलता। अबी उस रोज भाई कहके बुलाया तो दो सेठों ने हमको अंग्रेज़ी में गाली दिया...।

—कार वाला रहा होगा!

—हाँ, सा'ब, बहुत बड़ी कार थी—गुलाबी रंग की।

पाँच नए पैसे उसने तो लौटा ही दिए थे अठन्नी में से, मैंने नहीं लिए, तो भरी-पूरी मुसकान उसके चेहरे पर खेलने लगी।

सच कहता हूँ, राकेश, कल बाहर नहीं निकला। आज भी नहीं निकलूँगा। आईने का पिशाच सामने मुस्तैद खड़ा है...बीच-बीच में भौंहें तानकर, होंठ भींचकर वह मुझे धमका भी रहा है—ख़बरदार! आत्मकथा वाली घिसी-पिटी स्टाइल में कुछ का कुछ लिखकर पन्ने काले करोगे, तो तुम्हारे भी हाथ-पैर सुन्न हो जाएँगे! जीभ अकड़ जाएगी और दिल-दिमाग़ किसी काम के न रहेंगे!

तो फिर?

तो फिर, जय हो आईने के इस बैताल की!

नमस्तेऽस्तु पिशाचाय,
वैतालाय नमो नमः।
नमो बुद्धाय मार्क्साय
फ्रायडाय च ते नमः।

अथ नाग-लीला—

बाहर से जैसा कुछ दिखाई देता हूँ, वैसा ही नहीं हूँ न?

जीवन के अनेक-अनेक पहलुओं की सम-विषम प्रतिच्छवियाँ इस आईने में उभर रही हैं। स्टूडियो का टेकनीशियन फ़िल्म की बेतरतीब रीलों के टुकड़े क्या यों ही सेन्सर बोर्ड के समक्ष पेश कर देता होगा। नहीं जी, वह उन्हें कतर-ब्योंत करके एक ख़ास क्रम में सजाता होगा।

मेरा जीवन सपाट मैदान है—प्रेमचंद अपने बारे में कह गए...मगर मेरा जी नहीं मानता कि किसी भी साहित्यकार का जीवन सचमुच 'सपाट' होता होगा। दरअसल, यह भी एक फ़ैशन है व्यक्तित्व की छाप छोड़ने का कि हम अपनी सादगी, सिधाई, भोलापन, विनम्रता आदि का लेखा-जोखा आहिस्ता से औरों तक पहुँचा दिया करें! प्रकृति खुद ही चमत्कारमयी है, वह सपाट नहीं हुआ करती। तो फिर हमारी और आपकी ज़िन्दगी ही कैसे सपाट होगी?

अरे वाह! यह देखिए, सामने नागा जी का शिशु चेहरा...पीछे एक अधेड़ पुरुष की प्रौढ़ मुखाकृति...अगले ही क्षण चेहरे पर क्रोध का तनाव...होंठ काँप रहे हैं।

(मैं तेरा हाथ काट दूँगा! क्यों अंट-संट लिख मारा है तूने? बाप की बुराई कौन करता है?)

—शैतान। मगर मैंने झूठ थोड़े लिखा है! मेरी चाची से आपका क्या रिश्ता था? उस रोज़, दुपहर की उमस में अंदर लेटी हुई मेरी माँ का गला कुल्हाड़ी से किसने काटना चाहा था? समाज की दसियों औरतों से आपके लगाव थे। कोई बात नहीं। लेकिन मेरी माँ और मेरे पाँच भाई-बहनों को किसकी उपेक्षा का शिकार होकर दम तोड़ना पड़ा था?

(चोप्! जीभ खींच लूँगा...जानता नहीं, मैं कितनों की पसलियाँ तोड़ चुका हूँ?

रौब के मारे गाँव के युवक मुझे 'गुरू' कहकर पुकारते हैं!...)

—और पिताजी, आपकी वह गुरुअई कैसे गल गई थी, मामूली काग़ज़ की तरह जबकि मेरी विधवा चाची के गर्भ रह गया था और भ्रूण की निकासी के लिए पड़ोस वाले गाँव की उस बुढ़िया चमारन को सौ रुपए देने पड़े थे!

अजी वाह, आप रो रहे हैं? मेरा वश चलता तो उस अधेड़ उम्र में भी आप दोनों की नई शादी वैदिक विधि से करवा देता! पर मैं तो उन दिनों दस-ग्यारह साल का छोटा-सा बालक था—मातृहीन, रोगी और डरपोक!

अब सोचता हूँ, तो आईने के अंदर अपने होंठों को उस बाल-सुलभ खीज पर मुसकराते देखकर तसल्ली होती है। क्या क़सूर था बेचारों का? सहज नेहछोह वाले सीधे-सादे देहाती लोग थे...मगर पिता को अंत तक खुली क्षमा कहाँ दे पाया!

आज शायद इसीलिए पिता के प्रति विगलित हूँ कि स्वयं छह बच्चों का पिता हूँ। पितृ-सुलभ वात्सल्य के आवेग ही शायद अपने पिता-पितामह के प्रति हमें उदार बनाते हैं। 1943 के सितंबर में काशी की गंगा के किनारे मणिकर्णिका घाट पर उनका प्राणांत हुआ। मैं तिब्बत के पश्चिमी प्रदेशों की यात्रा पर निकल गया था। कहते हैं, अंतिम क्षणों में किसी ने मेरी याद दिलाई, तो सूखे होंठों को सिकोड़कर बोले थे—उस आवारा का नाम ही मत लो।

—न लो नाम, अपना क्या बिगड़ेगा? मैं भी तुम्हारी चर्चा किसी के आगे न करूँगा। मेरी माँ को जिसने इतना अधिक परेशान रखा, उस व्यक्ति को खुले दिल से 'पिता' कहने की इच्छा भला कैसे होगी?...

देखो भई, यह तो हिलने लगा! ज़रूर कोई गड़बड़ी हुई है, वरना आईना हिलता क्यों?

—अपू? अपराजिता? आओ, आओ! अच्छा हुआ कि शीशे में तुम दिखाई पड़ीं। कमज़ोर लग रही हो, बीमार हो क्या?

—मैं भी बीमार रहा इधर तो। ग़नीमत है कि बंबई की समुद्री आबोहवा के अब के दमा को मेरे गिर्द फटकने तक न दिया। हाँ, सर्दी-खाँसी ने बीस-पचीस दिनों तक बेहद परेशान किया।

—सोचती हूँ, पिछले कुछेक वर्षों में तुम मुझ से दूर-दूर सरकते चले गए हो। पहले कितनी चिट्ठियाँ लिखा करते थे। अब शायद मैं तुमको अच्छी नहीं लगती हूँ। है न यही बात?

—क्या बात करती हो, अपू! तुम तो मेरी सहधर्मिणी हो—ठेठ सनातन अर्धांगिनी श्रीमती अपराजिता देवी, 45। हमारी अपनी देहाती जायदाद और घर-आँगन की मालिक! तुम तो नाहक उदास हो, रानी! क्यों सुस्त हो? क्या बात है?

—वह चुड़ैल सपने में झगड़ रही थी...।

—कौन भई, कौन?

—वही, जो उस दफ़े गर्मियों में छत पर तुम्हारे लिए इत्र के फाहे फेंका करती थी...।

—उसके बारे में तो मैंने ख़ुद ही तुम को बतला दिया था। जो नहीं कहना चाहिए, वह बात भी कह दी थी। नहीं कही थी?

—सो तो सब कुछ बतला दिया तुमने...मगर वह राँड़ सपने में मुझसे झगड़ रही थी कि अब इस उम्र में सिन्दूर क्यों लगाती हूँ! कह रही थी 'ऐसा कौन-सा शहर है जहाँ तेरी सौत न हो'...सो, देखना, मेरी लाज रखना!

—क्या सोच रही हो, इस बुढ़ौती में कहीं दो-एक ब्याह मैं और भी रचा लूँगा?

—क्या ठिकाना है तुम लोगों का! मैं क्या पटना-इलाहाबाद नहीं रही हूँ? जरा-मरा जान-पहचान बढ़ी, तनी-मनी नेह-छोह बढ़ा कि चट्ट शादी पर ही उतर आते हैं...।

—अच्छा, ऽ ऽ ऽ ! ! ! तो, यह बात है!

मुझे ज़ोरों की हँसी आ गई है और अपराजिता का चेहरा दबी-दबाई हँसी के मारे प्रफुल्ल हो उठा है...ओफ्फोह, महिलाएँ कितनी चतुर होती हैं! पुरुषों को छूट भी देंगी और अपना हक़ भी नहीं छोड़ेंगी।

एक बार ऐसा हुआ कि हम आठ-दस महीने बाद मिले थे। मैं साठ घंटे बाहर नहीं निकला। उन दिनों बच्चे दो ही थे और छोटे थे। उस प्रसंग की एक बात बतला ही दूँ...।

अपनी उच्छृंखलता और मस्ती की ढेर-सी बातें बता चुकने के बाद मैंने अपराजिता से पूछा—तुम तो सुनती ही रही हो, कुछ अपनी भी बतलाओ न!

देर तक मुसकराती रहीं देवीजी। कोंचने पर बोलीं—ले-देकर एक ही तो देवर है अपना, हफ़्ते में एकाध बार मौक़ा मिलता है। बस, बातों का गिल्ली-डंडा खेल लेते हैं। घर बैठकर दो छोटे बच्चों को सँभालते, तो तुम्हारा भी विद्यापति टैं बोल जाता!

बचपन के दिनों वाले कई चेहरे सामने आ रहे हैं। सारे-के-सारे लड़के हैं—दो-तीन बड़ी उम्र वाले, बाक़ी हमउम्र और छोटे। एक लड़की भी झाँक रही है।

यह लड़की तेरह वर्ष पार करके चौदहवें में प्रवेश कर चुकी है। मैं संस्कृत की व्याकरण मध्यमा का छात्र हूँ और इंदुकला के पिता शशिनाथ जी मेरे अन्नदाता हैं (उन दिनों मिथिला में ग़रीब छात्रों को परिवार का सदस्य बनाकर अध्ययन में वर्षों तक सहायता करने की प्रथा थी)। इंदु मुझ से कहानियाँ सुनती है, विद्यापति

के पद सुनती है, कौड़ियों का खेल खेलती है मेरे साथ...इसके पहले मुझे कहाँ मालूम था कि लड़की क्या होती है!

अठारह वर्ष का हुआ, शादी हुई। तब अपराजिता और उसकी दसियों सहेलियों के दर्शन हुए। यह एकदम नई बात थी मेरे लिए। इसके पहले पाँच-सात साल उसी माहौल में गुज़रे थे जहाँ छात्रों और अध्यापकों के दरमियान समलिंगी व्यभिचार के आतंक की अशुभ छाया व्याप्त थी। लोग अपने लड़कों को छात्रावासों में भेजने से हिचकते थे। 1930-32 के महान् स्वाधीनता-संग्राम के चलते एक-एक कैम्प-जेल में दस-दस हज़ार सत्याग्रही रखे गए थे। उनमें सभी उम्र के लोग थे। वहाँ भी अप्राकृतिक सेक्स-संपर्क ने अपना रंग दिखलाया था।

यह दुर्भाग्य है कि स्त्रियों और पुरुषों को वर्षों अलग-अलग रहना पड़े। हमारा हिन्दीभाषी क्षेत्र सामाजिक सहजीवन की दृष्टि से पड़ोसी प्रदेशों की अपेक्षा कहीं अधिक पिछड़ा हुआ है। हमारी यह लालसा तो रहती है कि फ़िल्मों में नए-नए चेहरे दिखाई पड़ें, किन्तु अपनी पुत्री या पुत्रवधू को हम 'मर्यादा' की तिहरी परिधियों के अंदर छेंके रहेंगे! लड़की के लिए इंजीनियरिंग या डाक्टरी की पढ़ाई करने वाला युवक हासिल करना है, तो दस हज़ार से लेकर पचास हज़ार रुपए ख़र्च करेंगे, मगर उसको उसकी रुचिवाला जीवन-साथी चुनने का अवसर कदापि नहीं देंगे और न उसे काम करने की छूट देना चाहेंगे। बेकारी और सामाजिक घुटन की ज़हरीली भाप बेचारी के तन-मन को पंगु बनाती जाएगी और हम—

—ठहरिए, महाशय जी!

—कौन हो, भई?

—इस तरह तो काम नहीं चलने का...आप आईने की तरफ़ नहीं देख रहे हैं न? किसने कहा था कि जनाब मन की झील के अंदर गोते लगा गए! मैं इस दर्पण की आत्मा हूँ। रूप-कथाओं वाला बैताल मेरे डर से थर-थर काँपता है...।

—तो मैं भी तुम से डरूँ?

—नहीं, नागा बाबा, तुम काहे को मुझसे डरने लगे! हाँ, इतना ज़रूर है कि लापरवाही करोगे, तो उत्पात मचा दूँगा। बैठने नहीं दूँगा चैन से, समझे?

—लो भई, फिर से एडजस्ट करो इसे...

—शाबाश! कितना बढ़िया आईना है...!

कंधों के पीछे से दो छोटी-पतली बाँहें इधर लटक आईं।

—कौन? उर्मि, तुम हो?

—जी, पिता जी!

—पगली, सामने तो आ!

—उँहूँ, नहीं आऊँगी सामने। आपकी पीठ के पीछे छिपी रहूँगी। क्या होगा सामने आकर?

—तो, रंज है तू?

अब वे छोटी-पतली बाँहें दिखाई नहीं पड़ रही हैं। उर्मिला थी न अपनी? दस साल की हो गई। क़ायदे से पढ़ती-लिखती होती, तो छठवीं श्रेणी की छात्रा होती किसी स्कूल की...लेकिन उसकी पढ़ाई का सिलसिला छूट गया है न?

उर्मिला अपने बाप पर बेहद रंज है।

उर्मिला चूँकि लड़की है, बहुत कुछ समझने लगी है।

शोभाकांत ने पटना से कई बार लिखा है—आपने, पिताजी, उर्मिला के बारे में शायद तय कर लिया है कि उसे मूर्ख ही रखेंगे!

—नहीं, बेटा तुम ग़लत समझ रहे हो। मैं भला अपनी पुत्री को मैट्रिक भी नहीं करवाना चाहूँगा!

—तो यों ही मैट्रिक हो जाएगी उर्मिला?

मैट्रिक में फ़र्स्ट डिवीजन लाया है। पटना कालेज में प्रि-युनिवर्सिटी क्लासेज का छात्र है। बचपन में वर्षों तक बोन टी.बी. से आक्रांत था। एक टाँग शक्ति-शून्य है, इसी से लँगड़ाकर चलता है...उन्नीस साल का यह तरुण अपने बाप की रग-रग पहचानता है। उसे भली-भाँति पता है, पिताजी बातें बहुत करते हैं, काम नहीं करते! समूचा परिवार पटना या इलाहाबाद कहीं जमकर रहता, तो उर्मिला भी पढ़ जाती और मंजू भी...

—हाँ, बेटा! मैं गप्पी हूँ...अहदी भी हूँ और दांभिक भी।

हर साहित्यकार गप्पी होता है...अहदी भी होता है और दांभिक भी। यह अहदीपन और दंभ उसे ऊँचा उठाते हैं। ढेर-की-ढेर कपास ओटना मोटा काम हुआ। महीन सूतों का लच्छा अगर छटाँक-भर भी अपनी तकली से आपने निकाल लिया तो 'पद्मभूषण' के लिए इतना ही पर्याप्त है, बंधु!

आईने के अंदर जो नागाजी झाँक रहा था, अभी-अभी उसने भभाकर हँस दिया...

बाहर वाला नागाजी इस पर डाँट रहा है—मैं तेरा गला घोंट दूँगा, पाज़ी कहीं का! भिलाई या राउरकेला या दुर्गापुर, कहीं किसी ठेकेदार का मुंशी ही हो जाता भला! वह धंधा भी बेहतर था, बच्चू!

आईने वाली आकृति के होंठ हिल रहे हैं। मुद्रा से लगता है, कुछ गुनगुना रहा है...समझे? कह रहा है...

क़लम ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया,
वरना हम भी आदमी थे काम के।

अब आगे मैं तुझे अपने कंधों पर नहीं ढोऊँगा, अदना-सी कोई नौकरी कर लूँगा। बिलकुल असाहित्यिक!

मैं ऊब गया हूँ इस अतिरिक्त यश से। जी करता है कभी-कभी कि कोई ऐसा तगड़ा कुकर्म करूँ जिससे पिछली सारी शोहरत धुल-पुँछ जाए!

एक सहृदय बन्धु ने एक बार 'कुकर्म' का बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया था, तब क्यों तुम भागे थे?

वह शायद ही कभी तुम्हें क्षमा करे!

मैंने लेकिन उसको माफ़ कर दिया है।

अरे पिनकूराम, तुम क्या किसी को यों ही भूलने वाले हो?

क्या कहा? प्रतिशोध की मेरी भट्ठी कभी ठंडी नहीं होगी?

नहीं, कभी नहीं। बात यह हुई कि तुम्हारा सारा बचपन घुटन और कुंठा में कटा। ग़रीबी, कुसंस्कार और रूढ़िग्रस्त पंडिताऊ परिवेश तुम्हें लील नहीं पाए, यह कितने आश्चर्य की बात है! पहले तुम भी वही चुटन्ना और जनेऊ वाले पंडित जी थे न? न पुरानी परिधि से बाहर निकलते, न आँखें खुलतीं, न इस तरह युग का साथ दे पाते...

—नहीं दे पाते युग साथ! वाह भई, वाह!

यह किसने ठहाके लगाए?

—मैं? कौन हूँ मैं? दंभ हूँ, आरोपित 'इगो' हूँ—तुम्हारा अपना ही स्फीतस्फुरित अहंकार! व्यक्तित्व का आटोप...किस मुग़ालते में पढ़े हो, बाबा? क्या अकेले तुम्हीं ने युग का साथ दिया? बाक़ी और किसी ने ज़माने की धड़कन नहीं सुनी? अलस्सुबह, ब्रुश से दाँत माँजते वक़्त ऐस्प्रो की टिकिया का सुकंठ विज्ञापन, मीरा के भजन की लता-वितान वाली लहरियाँ'' अपराह्न के अवकाश को गुदगुदाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय टेस्ट मैच की कमेण्ट्री, संकट के क्षणों वाले उदास-अनुतप्त अनाउंसमेंट...यह सारा-का-सारा युगीन स्पंदन क्या तुम्हारे कानों तक पहुँचता रहा है?

बतलाओ, बतलाओ न! चुप क्यों हो गए?

गतिशीलता का सारा श्रेय तुम्हीं लूट लोगे?

गति नहीं, प्रगति! अरे हाँ, तुम तो प्रगतिशील हो न! बड़बोला प्रगतिवादी!

ज़रा देर के लिए अपनी 'प्रगति' के रंगीन और गुनगुने झागों को अलग हटा दो न! नागा बाबा, प्लीज...।

आचार्य शिवपूजन सहाय चल बसे।

जी हाँ, वर्षों से शिवपूजन बाबू का हेल्थ जर्जर चला आ रहा था।

...जी, बिलकुल ठीक फ़रमाया आपने। सहायजी का आविर्भाव न होता, तो बहुतों की कृतियाँ 'असूर्यम्पश्या' चिरकुमारियों की तरह घुटकर रह जातीं। यह सहायजी का ही तप था कि तीन-तीन पीढ़ियों की पांडुलिपियों का उद्धार हुआ।

—जी आपको भी तो यदा-कदा 'आचार्य नागार्जुन' के तौर पर याद किया जाता है!

—वाह जी वाह, हद कर दी आपने तो! अपने कानों को इस फुरती से क्यों छू लिया है आपने?

—ना बाबा, ना! आचार्यत्व का वह लबादा भला मुझसे ढोया जाएगा? अपन तो सीधे-सादे गऊ-सरीखे प्राणी ठहरे...

—माफ़ कीजिए नागार्जुन जी, आप उतने सीधे-सादे नहीं हैं...

—हाँ...हाँ, रुक क्यों गए? कह जाओ पूरा वाक्य। बीच में ही मेरा रुख क्यों नापने लगे?

लो, अब देखो तमाशा! आईने के अंदर वाला चेहरा तमतमा उठा है, और बाहर वाला चेहरा तो पतझर की फीकी उदासी को भी मात देने जा रहा है! सचाई की सारी खटास किस तरह कलई खोलती है तथाकथित व्यक्तित्व की!...देखा आपने?

ठीक तो है, मैं उतना सीधा-सादा नहीं हूँ जितना दिखता हूँ। यह सिधाई—यह सादगी तो बल्कि दुहरी-तिहरी ढोंग हो सकती है!

आदमी हो तो आदमी की तरह रहो न! यह क्या धज बना रखी है तुमने अपनी! छोटे-छोटे बाल उगाए रखते हो चंचल माथे पे। नुची मूँछों का ठूँठ आलम तुम्हारे मुखमंडल को प्राकृत और अपभ्रंश के संयुक्त व्याकरण-जैसा सजा रहा है! कपड़ों का यह हाल कि भदेसपन और कंजूसी का सनातन इश्तिहार बने घूमते हो! चर्चगेट हो या चौरंगी, कनॉट प्लेस हो या हजरतगंज, सर्वत्र तुम्हारी यही भूमिका रहती है। आधुनिकता या मॉडर्निटी को अँगूठा दिखाने में तुम्हारी आत्मा को जाने कौन-सी परितृप्ति मिलती है! ओ आंचलिक कथाकार, तुम्हारी आँखें सचमुच फूटी हुई हैं क्या? अपने अन्य आंचलिक अनुजों से इतना तो तुम्हें सीख ही लेना था कि रहन-सहन का अल्ट्रामॉडर्न सलीका भला क्या होता है। ओह, तुम मास्को-पीकिंग नहीं पहुँच सके हो अब तक?...ओफ़्फ़ोह माई डियर नागाबाबा! व्हाट ए पिक्यूलियर टाइप ऑफ़ पुअर फ़ेलो यु आर!...प्राग ही देख आए होते! प्राइमिनिस्टर की कोठी के सामने, तीन मूर्ति के क़रीब एकाध बार हंगर-स्ट्राइक मार दी होती, तो फिर बुडापेस्ट देखने का तुम्हारा भी चांस श्योर था...और अब तो ससुर तुमने अपने आपको डुबो ही लिया है। पीकिंग वालों को इस क़दर गालियाँ देने की क्या ज़रूरत

आ पड़ी थी! देख लेना, कल या परसों फिर से 'भाई-भाई' के वही नारे मुखरित होंगे और चुगद की तरह फीकी-डूबी निगाहों से चीनी-गणतंत्र के दूतावास की बाहरी प्रकाश-मालाओं को तुम देखा करोगे! ओ अछूत-औघड़ अदूरदर्शी साहित्यकार, तुम सचमुच ही भारी बेवकूफ़ हो! तुमने माओ-त्से-तुंग, लिउ-शाओ-चि और चाऊ-एन-लाई को बुर्जुआजी से उधार ली हुई गालियाँ दी हैं; कोई 'सच्चा' कम्युनिस्ट तुम्हें माफ़ नहीं करेगा। बंगाल के तरुण कम्युनिस्टों को यदि तुम्हारी ये कविताएँ अनूदित करके कोई सुना दे, तो वे निश्चय ही तुम्हारे लिए नफ़रत में डूबे हुए दो शब्द कहेंगे। बस, दो ही शब्द...

जी हाँ, दो ही शब्द कहेंगे!
बतलाओ तो भला, क्या कहेंगे?
—प्रतिक्रियावादी कुत्ता!

आईना घूम गया है यह सुनकर...वह चक्कर खा रहा है...चक्कर-पर-चक्कर...और एक चक्कर...और एक चक्कर!

अरे; कब तक चक्कर काटेगा आईना?
ओ भाई आईने, यह तुझे क्या हो गया!

इत्ते-से काम नहीं चलेगा। अभी और कुछ देर तक अपन आमने-सामने बैठेंगे। भई, तू घबरा क्यों उठा? किसी ने तुझे कुत्ता कह दिया? प्रतिक्रियावादी कह दिया किसी ने?...तो, क्या हुआ? आख़िर मैंने भी तो उनके इष्टदेव को गालियाँ दी हैं न? तू घूँसे लगाएगा, तो दूसरा चुप बैठा रहेगा क्या?

वाह रे घूँसेबाज़!

आईना एक बार और घूम गया है। अब की, शायद परिहास की भंगिमा में...

—अपनी शक्ल तो देखो!

—क्यों, क्या हुआ है मेरी शक्ल को?

—पास-पड़ोस में किसी के यहाँ अगर आदमक़द बड़ा आईना हो, तो कभी-कभी वहाँ पहुँचकर अपने शरीर की पूरी परछाईं देख आया करो न!

—हट-भाग यहाँ से! बदतमीज कहीं का!

—भारी पहलवान हो न, घूँसे का ख़याल तभी तो आया है...!

मन-ही-मन गोरेगाँव पहुँच गया हूँ क्षण-भर के लिए। डॉ. शुक्ला के क्वार्टर में आदमक़द आईना है। अभी उतना भुलक्कड़ नहीं हुआ हूँ...

अरे, मैं तो धनुष की तरह बिलकुल ही झुक जाऊँगा कुछ वर्षों में! हाय, मैं तो बुढ़ापे का गेट-पास पाने का हक़दार हो चुका हूँ...सिर के बाल खिचड़ी दिखते हैं। मूँछों का भी यही हाल है। हथेलियाँ उलटाओ, तो पतली नीली नसों के जाल

स्पंदित नज़र आते हैं। सीने के ऊपर गले के दोनों छोर पर नीचे की तरफ़ गड्ढे किसी की भी हमदर्द निगाहों को अपनी ओर खींच लाएँगे...

केशवदास जी ने अपना ऐसा ही ढाँचा देखकर स्वगत कहा होगा :

केसव, केसन अस करी
जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्र बदनि मृगलोचनी
'बाबा' कहि-कहि जांहि।।

मगर क़सम ईमान की, शपथ जनता-जनार्दन की, मुझे तो अपना यह 'बाबा' संबोधन बेहद प्रिय है। किशोरी हो चाहे युवती, कोई भी चंद्रवदना मृगनयनी अपने राम को 'बाबा' कहती है, तो वात्सल्य के मारे इन आँखों के कोर गीले हो जाते हैं। अपनी प्रथम पुत्री जीवित रहती तो सत्रह साल की होती...शादी करने के बाद घर से भागा न होता, तो हमारी यह चंद्रवदनी-मृगलोचनी तीस-बत्तीस वर्ष की होती...

पके बालों वाले आचार्य केशवदास का धर्मसंकट कुछ और ही प्रकार का रहा होगा। बुढ़ापे में भी छिछोरपन जिनका पिण्ड नहीं छोड़ता, हमारे यह बुज़ुर्ग निःसंदेह उसी कोटि के थे। हाँ, यह भी हो सकता है कि केशवदास को बदनाम करने के लिए किसी अन्य ईर्ष्यालु कवि ने उसके नाम पर यह दोहा लिख मारा हो...फ़िलहाल आचार्य केशवदास तो महाकाल की अतल गोद में से बाहर आने से रहे, उनकी ओर से शायद कोई अन्य आधुनिक आचार्य मुझे बतलाएँगे उक्त दोहा क्षेपक है। प्रतीक्षा में रहूँगा।

मगर अपनी टेढ़ी कमर का क्या होगा?

आत्मा को सबल बनाओ, नागा बाबा, देह की फ़िक्र क्यों करते हो, प्यारे? 'नैनं छिदन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः' गीता का एक भी श्लोक याद न रहा?

तो राकेश वाला आईना ठीक ही कहता है, मैं बूढ़ा हो गया हूँ। जवाबी हमला अपनी तरफ़ से अब शब्दों तक ही सीमित रहेगा?

कोई परवाह नहीं! शब्द को अपने पूर्वजों ने वज्र से भी बढ़कर शक्तिशाली माना है...

हूँ...ख़ैर, 'हारे का हरिनाम' ही सही।

शब्दों की गोलाबारी ज़िन्दाबाद! शब्द-ब्रह्म की यह बारूद हमारे राष्ट्र की अपनी वस्तु है...एटम बम या मेगाटन कोई भी अक्षर-शक्ति का सामना नहीं कर सकता!

अक्षर-शक्ति के द्रष्टा, शब्द ब्रह्म के उद्‌गाता...हम भारतीय साहित्यकार

सप्तर्षियों के वंशधर हैं। सुन ले रे अलादीन के आईने! जो भी हमारा मख़ौल उड़ाएगा, उसकी कलेजियाँ टूक-टूक हो जाएँगी! ख़बरदार! हमें ताने न मारना, अहमक...

—मुझे तूने डरपोक समझ रखा है?

—माफ़ कीजिए, बाबा, आप क्या किसी से नहीं डरते हैं?

—वाह, डरता क्यों नहीं! दरअसल डरना भी उतना ही स्वाभाविक क्रिया होती है जितनी कि डींग मारना!

—तो आप किससे डरते हैं?

—अपने पाठकों से डरता हूँ। बलचनमा से डरता हूँ; वरुण के बेटों से डरता हूँ, दुखमोचन और रतिनाथ और वाचस्पति और पद्मानंद और मोहन माँझी से डरता हूँ। कंपाउण्डर की उस बहादुर बीवी का ख़याल आते हो माथा दर्द करने लगता है कि बेचारी के प्रति मुझ से भारी अन्याय हो गया। रात को जब लोग सो जाते हैं, तब अक्सर मेरा बालचंद सिरहाने खड़ा हो जाता है। अभी उस रात चौपाटी वाले उस कमरे के अंदर बलचनमा फलॉंगकर चला आया, तो पैरों के धमाके से मेरी नींद उचट गई।

—सुरती फाँकेंगे, काका? आपके लिए ख़ास तंबाकू लाया हूँ जटमलपुर के मेले से। वही सरइसा वाला बड़ा पत्ता है। सूँघकर देखिए न?

—आप तो हमें भूल गए हो काका! नहीं? मैं झूठ कहता हूँ?

—आप चुप क्यों हो, काका?

—नहीं खोलोगे ज़बान अपनी?

—अच्छा, न खोलो...

तंबाकू का पत्ता खोंट-खोंटकर बालचंद्र ने फिर उसमें चूना मिलाया। पलंग के नीचे से स्टूल खींचकर बैठ गया और सुरती मसलने लगा।

मैं अपने इस खेतिहर हीरो से इन दिनों बहुत घबराता हूँ। वह चालीस से ऊपर का हो चुका है। एक बार गाँव का सरपंच भी चुना गया था। सात-सात बेटों का बाप है अब हमारा बलचनमा। बेचारी सुगनी जाने कब से तरस रही है कि घर-आँगन में एक बिटिया भी डोलती नज़र आए!

—काका; कहाँ-कहाँ भागते फिरोगे? मैं छोड़ूँगा नहीं तुमको, हाँ! मुझको पिटवाकर कहाँ डाल रखा है? बेदर्द-निर्मोही कहीं के! शरम नहीं आती है, एक पोथी अधूरी छोड़ के अंट-शंट लिखे जा रहे हो! जब तक मेरी वाली पोथी ख़त्म नहीं करोगे लिखकर, तब तक इसी तरह बिलल्ला बने भटकते रहोगे मिसिर जी महाराज!

—मैं आपको पकड़ के वापस ले जाऊँगा। क़ैद करके अक्कड़-लक्कड़ वाली पिछवाड़े की अपनी उसी कुठरिया में बंद कर दूँगा...

—मैं आपकी मिट्टी पलीत करूँगा...

—मैं आपको कहीं का न रखूँगा...

—आप मेरी कहानी कब तक पूरी तक रहे हो? चलो, साल-भर की मुहलत देता हूँ। इस अरसे में अगर मेरी कहानी को लेकर आपने चार-पाँच सौ पन्नों की एक और पोथी नहीं लिख डाली तो बस...

क्या कर लेगा?

जान से मार डालेगा क्या?

नहीं, शायद हाथ काट डालेगा!

अरे, बड़ा गुस्सैल है बलचनमा...पीछे पड़ जाता है, तो फिर तबाह कर देता है...

मैं उसे मना लूँगा...

हाँ, वह मान जाएगा...

वह मेरा मानस पुत्र ठहरा न?

—जी हाँ, पिताजी!

यह तो दूसरा स्वर है...किसका स्वर है?

—इतनी जल्दी भूल गए मुझे? ओ वंचक पिता! लो, तुम्हारा एक मानस पुत्र तुम्हें प्रणाम करता है, दुखमोचन की कैसी रेड़ मारी तुमने? आपके लाभ-लोभ का शिकार वही दुखमोचन आपको अपनी प्रणतियाँ निवेदित कर रहा है, आर्य!

—वत्स, घबरा क्यों गए? मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ। शीघ्र ही तुम्हारा यथार्थ रूप पाठकों के समक्ष उपस्थित करूँगा। पिछली भूल अब और नहीं दुहराई जाएगी। आकाशवाणी केन्द्रों की दुहरी-तिहरी बोरियत का तुम्हें शिकार होना पड़ा, तुम्हारी लपसी बन गई, इसके लिए मैं तुमसे माफ़ी चाहता हूँ, बेटा!

आईने वाला मुखड़ा मुस्करा रहा है। मैं सब समझता हूँ...वह कहेगा, देखो नागा बाबा, तुम न तो अपनी औरत-संतानों के प्रति ईमानदार हो, न मानस संतानों के प्रति ही!

बिलकुल ठीक कहेगा, मैं अपना यह पाप कबूल कर लूँगा। बिना अगर-मगर के, बिना न-नु-न-च के स्वीकार कर लूँगा अपना अपराध...

ज़िन्दगी में पहली बार ऐसा हुआ है कि मुझे किसी आईने के सामने इतनी अधिक देर तक अपने को हाजिर रखना पड़ा।

मुझे बार-बार राकेश की खाम-ख़याली पर हँसी आई है, खीजा हूँ बार-बार

राकेश के इस दुराग्रह पर। मेरे मालिक (पाठक-पाठिका वृंद), आपको मैं अब क्या बताऊँ कि आईने में अपना मुखड़ा देखना कितना आवश्यक है! इस झमेले से छुटकारा पाने का आसान तरीक़ा मुझे बचपन में ही मालूम हो गया था...महीने-महीने साबित माथा छिलवा लेना! अपराजिता को मेरी इस सनक से सख़्त नफरत रही है। वह जाने कितनी दफ़े मुझ पर रंज हुई होगी, महज़ बालों के सवाल पर! पिता के इस हठ का बच्चे भी मखौल उड़ाते हैं...

पिछले जीवन पर ग़ौर करता हूँ, तो याद आता है, अठारह वर्ष की आयु तक शायद अठारह बार भी मैंने शीशे में अपना मुँह नहीं देखा होगा। पीछे शादी हुई, तो ससुराल के उस केलि-कुंज में अपराजिता की सहेलियों ने मुझे फ़ैशन का क-ख-ग सिखलाया! सुगंधित तेल की शीशी, कघी और आईना मेरे बनारस वाले छात्र-जीवन में तब तक साथ रहे, जब तक कि गांधीजी की आत्मकथा का पारायण नहीं किया।

अब महसूस करता हूँ कि आईना मुझे नित्य देखना चाहिए। अपने आलोचकों को यों हम दस-बीस गालियाँ दे ही लेते हैं, किन्तु प्रतिरूप देखते वक़्त हमारा निज का ही विवेक अपनी मीमांसा कर डालता है...निश्छल और संतुलित। उसके सामने हमारे बाज़ारू हथियार धरे ही रह जाते हैं।

आईने, तेरी जये हो!

आईने, अब आज से तू मेरा साथी हुआ!

अब मैं रोज़ तुझसे दस-पंद्रह मिनट बातें किया करूँगा। लेकिन नहीं, यह तो अपना आईना नहीं है। राकेश, ले जाओ अपना जादुई शीशा...! इसने तो मेरा माथा ही ख़राब कर दिया! जाने क्या-क्या बकवा लिया है!...

नहीं भाई, मुझे नहीं चाहिए आईना-फाईना!

किसी को अपना बेड़ा-गर्क करना हो, तो राकेश की ओर रुख करे...श्रीयुत मोहन राकेश, हाल मुकाम चर्चगेट, बंबई, पोस्ट जोन नम्बर 1; क्यों भैयाजी, आपके निवास-स्थान का पूरा पता बतला दूँ संसार को?

संसार यानी विश्व। विश्व यानी दुनिया-भर के सभी राष्ट्र। सभी राष्ट्र यानी सभी राष्ट्रों के झंडे...

क्यों साहब, झंडे क्या राष्ट्र के ही हुआ करते हैं?

काशी-प्रयाग के हर पंडे का अपना अलग-अलग झंडा होता है। आपका भी अपना अलग झंडा हो सकता था।

था नहीं; है! है, साहब है! मेरा भी अपना झंडा है...!

अच्छा! वही झंडा! पार्टी वाला? हँसिया और हथौड़ा?

राम कहिए। फ़िलहाल लगी है मुझे कसके भूख, इसी से और कोई झंडा सूझ नहीं रहा है। बस, अपना तो वही एक प्यारा झंडा है...मैथिली ब्राह्मणशाही का पीला झंडा! देखिए भाई, हँसिए नहीं। मेरे झंडे पर बड़ी मछली का निशान है। कितना प्यारा निशान है, मछली...मछली...!

सिर चकरा रहा है?

भूख बहुत लगी है?

जाओ न, चेम्बूर जाकर मछली-भात डटा आओ। अपना मैथिल मित्र है न तुम्हारा वहाँ?

नहीं, अभी यहीं बिजली के चूल्हे पर खिचड़ी तैयार करता हूँ—सुरेश भाई चौपाटी वाले अपने रूम में इतना तो इंतजाम कर ही गए हैं।

मगर यह आईना भी तो अपना पिण्ड छोड़े न!

अब आख़िरी झाँकी है...

सामने अपनी परछाईं के इर्द-गिर्द एक-एक, दो-दो करके कई चेहरे आगे-पीछे दिखाई दे रहे हैं :

क—तुमने मुझे पिटवाया था, मैंने तुम्हें दो वर्ष की जेल की सजा कटवाई थी। तुम्हारी जटा तीस हाथ लंबी थी, गोरखपुर के उस पारसी मज़िस्ट्रेट ने तुम्हारी गिरफ़्तारी के बाद पहला काम यही किया था कि जटा मुँड़वा दी...इलाक़े में तुम्हारी ढोंग की तूती बोलती थी...नागा बाबा ने बुलहवा के बाबा की माया को पंक्चर कर दिया! गवाहों ने अदालत में कहा था—यह व्यक्ति मूलतः तमकुही का रहने वाला मुसलमान है और भागकर नेपाल चला गया। वहाँ से साधु बनकर लौटा—काले चेहरे की लाल आँखें बार-बार मुझे घूर रही हैं।

ख—एक अधेड़ औरत। रात को सोते समय कंबल के अंदर घुस आई थी। तिब्बत की घटना है। अपरिचित जगह, वह इसलिए साथ सोने आई थी कि मैं ठंड के मारे सिकुड़कर कहीं दम न तोड़ दूँ!

ग—अमृतसर का एक लाल। हम पति-पत्नी (1941 में) को यह निरे भोंदू मान बैठा था। अपराजिता को रिझाने की बेचारे ने कोशिश की, सैकड़ों रुपए ख़र्च कर डाले। उसे आशा थी कि अपने गँवार पति को छोड़कर यह युवती उसकी जीवन-संगिनी बनना स्वीकार कर लेगी। बरेली-मुरादाबाद-हरिद्वार-सहारनपुर जाने कितने दिनों तक यह पंजाबी युवक हमारे साथ चिपका रहा!

घ—उत्तर प्रदेश का एक प्रशासक। कई हज़ार रुपए बरबाद हुए उसके। इसमें 40 प्रतिशत कसूर उसका अपना भी था।

ङ—वयोवृद्ध पत्रकार। आपको मैंने अपनी पैनी क़लम चुभो दी थी। बड़ा दर्द हुआ बेचारे को... .

च—काठमांडू का एक सैनिक अधिकारी। उन्होंने तीन राष्ट्रों की महँगी शराब को आचमन करने का सुअवसर प्रदान किया था।

बस, बंद करो अपनी बकवास...!

हाँ, सचमुच बड़ी क़तार है उन चेहरों की जिनकी निगाहों में मेरे लिए उलाहना भरा है...बाक़ी चेहरे कुछ ऐसे भी मित्रों के हैं जिनकी प्रशस्ति में मैंने निर्लिप्तता का परिचय दिया।

भाई, यह तोड़-जोड़ की दुनिया है। इस हाथ दो, उस हाथ लो। वरना जहन्नुम में जाओ...!

अलविदा, प्यारे आईने! अलविदा!

(*सारिका*, मार्च '63)

यात्रा संस्मरण

टिहरी से नेलङ्

अप्रैल का अंतिम सप्ताह था (1943)।

इलाहाबाद की गर्मी से तिलमिलाकर राहुलजी और मैं, दोनों जने हिमालय की ओर भागे। मैं सारा वर्ष तिब्बती-अध्ययन के लिए लगाना चाहता था, तदर्थ थो-लिङ् जाने की इच्छा थी, मगर राहुलजी अधिक आगे नहीं जाना चाहते थे। अधिक-से-अधिक गंगोत्री के आस-पास किसी जगह दो-तीन महीने रहकर उन्हें कुछ लिखना था।

हरिद्वार की कोई ख़ास बात याद नहीं है। हाँ हर की पैड़ी के पास एक बड़े मकान की दीवार पर गेरू-कोयले-पेन्सिल आदि से कुछ नज़्में लिखी पड़ी थीं, श्रद्धा-भक्ति और वैराग्य के संबंध में। वहीं राहुलजी ने भी उर्दू की दो प्रसिद्ध कड़ियाँ लिख दी थीं। वे अभी मुझे याद हैं :

तमीरे हैं, खैरात हैं औ' तीरथ-हज भी होते हैं।
यों ख़ून के धब्बे दामन से ये पैसे वाले धोते हैं।।

ऋषिकेश के सिन्धी धर्मशाला में हम टिके। वहाँ बाज़ार को छोड़कर जितने भी मकान हैं, उनमें से तीन-चौथाई काली-कमली वालों और पंजाबी-सिन्धी क्षेत्र वालों की ही मिल्कियत है। अधिकतर आबादी साधुओं और उनके लिए नियुक्त परिचारकों की मालूम देती थी। धर्म का बड़ा ज़ोर है। इन दिनों साधु लोग निमुच्छे चेले ज़्यादा रखने लगे हैं। भगतिनों और साधिकाओं की तादाद कम नहीं। कोढ़ी इतने अधिक हैं कि ऋषिकेश को कोढ़ीकेश कहना अत्युक्ति नहीं होगा।

वहाँ के नाथपंथी साधु अपने पूर्व गुरुओं के संबंध में इतनी जानकारी नहीं रखते, जितनी की हमें आशा थी। चौरासी सिद्धों के ये उत्तराधिकारी आजकल अपने शिष्यों से व्याकरण और वेदांत की परीक्षाएँ दिलवाकर ही संतोष कर लेते हैं। महंत चढ़ईनाथ के अखाड़े में बाबा पद्मनाथ से बहुत दिनों पर मुलाक़ात हुई। प्रकांड विद्वान साधु शांतिनाथ की बात उठाई, तो वहाँ किसी ने कहा 'ऊ त बौराय गया!'

टिहरी के लिए लारी मिलने में दिक़्क़त इसलिए हुई कि पेट्रोल की कमी के कारण बस-सर्विस अनियमित हो गई थी। साढ़े चार रुपए फ़ी सीट किराया। हम आगे बैठे कि देखते चलेंगे। लछमन-झूला तक दो दफ़े मैं पहले भी आ चुका था।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर नरेन्द्र नगर दिखाई पड़ा। टिहरी राज्य की नई राजधानी होने के कारण नरेन्द्र नगर काफ़ी प्रसिद्ध हो चुका है। चार हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर बसा है और है भी ख़ूबसूरत।

ऊँची-नीची टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ियों की परिक्रमा करती हुई हमारी लारी शाम को टिहरी पहुँची। ऋषिकेश यहाँ से पचास मील पीछे रह गया।

आस-पास की घाटियों में उपजाऊ खेत। दूर-दूर तक फैले हुए चीड़ के जंगल। सीधे-सादे लोग। पाजामा, लंबा चोगा, टोपी और कमरबंद—यही है उनका पहनावा। औरतें ऊनी साड़ी पहनती हैं। कुर्ती और कमरबंद भी रहता है। मुख्य जीविका खेती-बाड़ी और पशु पालन। मर्द बाहर जाकर फ़ौज में काम करते हैं।

टिहरी की आबादी मुश्किल से दो हज़ार होगी। गढ़वाल की पुरानी राजधानी ब्राह्मण, राजपूत और शूद्र सभी की आवास भूमि रही है। दश-पाँच घर मुसलमान भी हैं। शिक्षा का अनुपात बहुत पिछड़ा हुआ है। भागीरथी गंगा के किनारे होने के कारण गढ़वाली इस शहर को एक तीर्थ का भी महत्त्व देते हैं। स्वामी रामतीर्थ के अंतिम दिन यहीं बीते थे।

मुझे गढ़वालियों की जिस नवचेतना का परिचय ब्रिटिश गढ़वाल में मिला, वह इन रियासती गढ़वालियों में नहीं। राष्ट्रीय जागरण का कुछ चिह्न अब टिहरी गढ़वाल में भी नज़र आने लगा है, लेकिन ब्रिटिश गढ़वाल की अपेक्षा वह अभी बहुत पीछे है।

हम वहाँ गुरुद्वारे में टिके थे। बहुत दिनों से मछली नहीं खाई थी, सो जीभ का अच्छी तरह श्राद्ध किया। भूने हुए चने और चावल, नमक-घी से सने—ऊपर से यदि तली हुई मछलियाँ मिल जाएँ, तो फिर क्या पूछना!

टिहरी में हम चार रोज़ रहे। खाना-पीना होटल में होता था। काम था आसपास के मंदिरों, मकानों और खंडहरों की खाक़ छानना। पुरातत्त्व की कोई ऐसी उल्लेखनीय वस्तु नहीं मिली, जिसका ज़िक्र यहाँ आवश्यक है। हाँ, एक अवधूतिन से अवश्य भेंट हुई थी। वह ब्रजमंडल की थी। चालीस-पैंतालीस की उम्र। बतलाया—'दश साल से इन्हीं पहाड़ियों में घूमती हूँ। लोग काफ़ी मान-पूजा करते हैं, एक नाथ थे, जो गुरु और पति दोनों का काम करते थे, अब न रहे...।'

बाद में राहुलजी से पूछने पर मालूम हुआ कि ऐसी अवधूतिनों का यही ढंग रहता है।

रुपए रोज़ पर एक भरिया मिला। वह ब्राह्मण था, इसलिए आगे चलकर बहुत फ़ायदेमंद साबित हुआ। जात-पाँत और छूत-छात का महातम इन पहाड़ों में इतना अधिक होगा, इसकी मुझे कल्पना तक नहीं थी। किसी चट्टी पर छाँह में बैठता, तो लोग उस भारवाही ब्राह्मण से पहले यही पूछते कि किस जात का है तू? लोटा, बालटी या बर्तन उसे तभी छूने दिया जाता, जब पूरा हुलिया मालूम कर लेते। ख़ुद भी बड़ा ही मशखरा था और तिस पर छै-सात रोज़ तक राहुलजी की संगति पाकर

वह 'मँज गया'—यह उसके अपने शब्द हैं। नाम था घनानंद। उमर ढल जाने पर भी शादी नहीं हुई थी। उसने राहुलजी से कहा था—'साल-डेढ़ साल के लिए मैं अवधूत बन जाऊँगा, अपने टिहरी की उसी अवधूतिन से 'मंत्र' लूँगा। कैसा रहेगा यह बाबू जी?'

मेरी ओर आँखें मटकाकर राहुलजी मुसकुराने लगे, तो मैंने ही घनानंद को कहा—'वाह! साल ही डेढ़ साल के लिए क्यों?'

'सिद्ध नहीं न बनना है मुझे'—उसने हँसकर जवाब दिया। उसके पीले-पीले से दाँत ख़ुशी से रोशन हो उठे।

टिहरी से आगे सवारी कोई नहीं, हाँ, 'नरवाहन' बनकर जा सकते हैं। घोड़ा इस रास्ते में कम ही मिलता है। ग्यारह मील पर कल्याण में हमने पड़ाव डाला। घनानंद ने ही रसोई बनाई—रोटी और आलू की तरकारी। आटा रुपए में अढ़ाई सेर, घी पाव-भर, आलू चार सेर। रेजगारी की किल्लत थी। खा-पीकर दुपहर का आराम भी वहीं किया।

डेढ़ पहर दिन रहा तो फिर चले। रास्ता ऐसा मनलग्गू था कि शाम तक फिर ग्यारह मील। नगुण था इस पड़ाव का नाम। रास्ते में देखा, फ़सल (रबी) कट चुकी है। ख़ाली खेतों की मेंड़ों पर गाय-भैंस चर रही हैं। यहाँ लगा कि गढ़वाल बहुत ही उपजाऊ और बहुत ही सुंदर है। हमारा रास्ता गंगा के किनारे-किनारे ही चल रहा था। चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ थीं—जिन पर खड़े चीड़ों के बड़े-बड़े दरख़्त आसमान को चूग रहे थे। बीच-बीच में चरवाहों की सीटियाँ और सिसकारियाँ सुनाई पड़तीं, पहाड़ी गीतों के तराने सुनाई पड़ते।

नगुण बहुत छोटी बस्ती है, मुश्किल से सात-आठ घरवासी होंगे। यात्रियों के पड़ाव के ही कारण वे भी बस गए थे। उनमें से तीन तो दुकानदार हैं। हमें रात्रि निवास के लिए एक मंदिर का बरामदा मिल गया। यहीं बलिया निवासी एक भूतपूर्व जज से मुलाक़ात हुई। उनके साथ स्त्री, भाई, भतीजा और नौकर वग़ैरह थे। तीन कुली थे। साधु हो जाने की शंका से श्रीमती जी अपने तीर्थ-यात्री पति का पीछा कर रही थीं। जज साहेब का मन था, सिर्फ़ एक नौकर साथ रखकर यात्रा करनी चाहिए। बातचीत के दौरान में उन्होंने कहा था—'हमारे पूर्वज अपने वानप्रस्थ जीवन में पत्नी को साथ रखकर भला कौन-सी शांति पाते होंगे, समझ में नहीं आता! देखिए न, मेरा मन करता है गंगा के किनारे जाकर कुछ देर एकांत में बैठने का, मगर इन्होंने (स्त्री ने) मुझे डेरे में क़ैद कर रखा है—स्वेटर, मफलर, बनरमुँहा टोपी और मोजे, नीचे-ऊपर कंबल और तिस पर भी कड़ा अनुशासन कि ख़बरदार, जो थूक फेंकने को भी उठे!...'

इतना कहकर जज साहेब ने पास रखी पीकदान में ज़ोर से थूक फेंका। पत्नी महाशया तब तक उधर रसोइए को कुछ 'डिक्टेट' कर रही थीं।

खा-पीकर बिछावन पर पड़ते ही नींद आ गई थी, इसे दिन-भर की थकावट की ही महिमा कहनी चाहिए। उस रात कुछ अधिक सर्दी पड़ी थी, परन्तु कंबल आदि काफ़ी रहने से हमने ज़रा भी असुविधा महसूस नहीं की।

सुबह चौदह मील चलकर डूँडा आए। धरासू और जमनोत्री का रास्ता अलग हो गया था। इस चट्टी पर जो यात्री थे, उनमें स्त्रियों की ही संख्या अधिक थी। डूँडा में रोङ्पा लोगों के ख़ाली मकान पड़े हुए थे। वे गर्मी तिब्बती सीमांत के पास बिताते हैं और सर्दी यहाँ बिताते हैं। उनकी ख़ानाबदोशी बस अब यहीं तक सीमित रह गई है।

अगले दिन हम उत्तरकाशी पहुँचे। यह स्थान टिहरी से चौवालिस मील है, रियासत का तहसील है। आबादी मामूली है। इंगलिश मिडिल स्कूल और अस्पताल भी है। कहने को एक टेकनिकल स्कूल भी है। इस ओर का अंतिम डाकख़ाना यहीं है।

पहले बिड़ला धर्मशाला में ठहरे, फिर पंजाबी-सिन्धी क्षेत्र में एक कमरा मिल गया। घनानंद को यहीं से वापस जाना था। सवा रुपया रोज़ पाकर वह ख़ूब ख़ुश हो गया। अब खाना पकाने की समस्या सामने थी। क्षेत्र का मैनेजर पहाड़ी ब्राह्मण था। उसने हमारी दिक़्क़त दूर कर दी और कहा—'आटा और दाल या चावल-दाल रोज़ आप हमारे रसोइयों को दे दीजिए, खाना पका-पकाया मिल जाया करेगा।''

अपने को और क्या चाहिए?

उत्तरकाशी में हम कुल बीस दिन रहे। राहुलजी ने 'नए भारत के नए नेता' का अधिकांश भाग यहीं तैयार किया। *गँवार* नाम का एक उपन्यास भी उन्होंने आरंभ किया था, परंतु चालीस पृष्ठ लिखकर उसे रद्दी क़रार दिया। मैं अपना सारा समय तिब्बती पढ़ने में लगाता था। इसके अलावा पश्चिमी तिब्बत के मार्गों का सही अंदाज़ पाने के लिए हिमालय के नक़्शों की छानबीन करनी ही पड़ती थी। यहाँ पता लगा कि गंगोत्री से थोलिङ् आठ दिन में पहुँचा जा सकता है। लेकिन रास्ता विकट है।

राहुलजी ने दिन-भर में एक नया नक्शा मेरे लिए तैयार कर दिया, बाद में वह ख़ूब काम आया। उसमें उत्तराखंड के तमाम रास्ते, कैलाश, मानसरोवर की परिक्रमा, लेह (लद्दाख), स्पिति, थोलिङ्, गतांक और बिचले तिब्बत का प्रदेश अंकित था।

यहाँ भी साधुओं की काफ़ी संख्या रहती है। दस-पंद्रह ऐसे भी शिक्षित साधु हैं

जिनके लिए मास-मास श्रद्धालुओं के मनीआर्डर आते रहते हैं। दक्षिण भारत (शायद मलाबार) के तपोवन स्वामी यहाँ के साधुओं में काफ़ी प्रतिष्ठित कहे जाते हैं। एक दिन हम दोनों उनसे मिलने गए। देखा, संस्कृत और अंग्रेज़ी धड़ल्ले के साथ बोलते हैं। रुचि और सामर्थ्य की थाह पाकर ग्राहकों को माल सप्लाई करने की कला साधु-संतों में भी होती है, यह चतुर संन्यासी इस बात का सबूत था...तपोवन स्वामी के साथ कई और साधु रहते हैं, वेदांत का अध्ययन-अध्यापन होता ही रहता है। राहुलजी भी ख़ूब हैं, जब तक वहाँ बैठे रहे, स्वामी महाराज की चेष्टा, आकार-इंगित आदि का अध्ययन करते रहे, अपने को जब्त रखा, मानो उपन्यास का मशाला बटोरते रहे।

दूसरे थे स्वामी आनंद। इंगलैण्ड, जर्मनी घूमकर अब ग्यारह वर्ष से उत्तरकाशी में रह रहे हैं। स्वामी रामतीर्थ का शिष्यत्व और विदेशों का पर्यटन— आपके जीवन की यही दो विशेषताएँ हैं।

तीसरे साधु जो मिले, उनका नाम था प्रज्ञानाथ। वह बंगाली और गोरखपंथी थे। उन्हें बंगला में गूढ़-से-गूढ़ विषयों पर लिखते रहने की सनक है। कैलाश-मानसरोवर की प्रदक्षिणा कर आए हैं, इसीलिए मार्ग संबंधी सूचना उनसे थोड़ी बहुत अवश्य मिल गई।

उत्तरकाशी की प्राकृतिक सुषमा बहुत अच्छी है। दूर पहाड़ियों पर देवदार का जंगल अजीब छटा की सृष्टि करता है। जहाँ हम टिके थे, वहाँ से बिलकुल क़रीब थी गंगा। उसका कल-कल, छल-छल निशा के नीरव क्षणों में भी मधुर और भी स्फूर्तिप्रद बनकर इन कानों में प्रवेश करता। मैं उठकर धार के किनारे आ जाता और पत्थर पर बैठकर गुनगुनाने लगता :

सित दुकूल सम फेनपुंज से प्रावृत तव श्यामल काया
दूर देश से मेरे मन को खींच यहाँ पर ले आया
समा रहे हैं तेरी कल-कल ध्वनि में शत-शत मनहर छंद
बैठा हूँ मैं कृष्ण शिला पर खोल कान आँख कर बंद।

जब काशी हुई, तो विश्वनाथ भी होना ही चाहिए। विश्वनाथ और अन्नपूर्णा, सभी वहाँ मौजूद हैं। एक मंदिर शक्ति का है। बहुत बड़ी शक्ति (भाला) गड़ी हुई है। उस पर अभिलेख है। राहुलजी ने पढ़ने की बड़ी कोशिश की परंतु प्रकाश के अभाव में असफल रहे। वीरभद्र शास्त्री तैलंग ने इस शक्ति स्तंभ के अभिलेख को प्रकाशित कराया था।[1]

1. *गंगा* का पुरातत्वांक।

परशुराम मंदिर के पास एक और मंदिर है। दत्तात्रेय मंदिर। बहुत छोटा होने के कारण हमने इसे छोड़ दिया था परंतु स्वामी आनंद के कहने पर पीछे वहाँ गए। पीतल की त्रिभंगी प्रतिमा, बुद्ध (अवलोकितेश्वर) की। और लोग उसे दत्तात्रेय कहकर पूज रहे थे! उसकी पाद-पीठिका पर तिब्बती लिपि में लिखा था—'ल्ह ब्चुन-प न ग र ज इ थु व स' [देव भट्टारक नागराज की (बनाई हुई) मुनि (बुद्ध) प्रतिमा]।

नागराज पच्छिमी तिब्बत के शासक ज्ञान प्रभु के (11वीं सदी) दो राजकुमारों में से एक थे। मालूम पड़ता है, उस समय उत्तरकाशी तक भोटियों का राज्य था। तिब्बती इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि ज्ञानप्रभु को किसी पड़ोसी राजा ने क़ैद कर लिया था। राजकुमार ने विजेता को काफ़ी सोना देकर अपने पिता को छुड़ाना चाहा, परंतु बंदी ने छूटने से इन्कार कर दिया। उसने अपने पुत्र को कहला भेजा—'यह सोना भारत से किसी महापंडित को बुलाने में ख़र्च करो। मैं अब बूढ़ा हुआ, यहीं जेल में मर जाऊँगा तो क्या हर्ज है?'...

फिर आचार्य दीपंकर अतिशा विक्रमशिला से जो बुलाए गए थे, उसमें वही रकम ख़र्च की गई थी। पीछे जाकर स्वयं ज्ञानप्रभ भी मुक्त हो गया था।...संभव है, ज्ञानप्रभ को क़ैद करने वाला वह पड़ोसी राजा गढ़वाल का ही रहा होगा। उत्तरकाशी कोई पुरानी बस्ती नहीं है, सो तो नाम ही बताता है। उत्तराखंड में जहाँ-जहाँ दो नदियों का संगम है, वहाँ-वहाँ प्रयाग है—जैसे नंद प्रयाग, कर्ण प्रयाग, रुद्र प्रयाग आदि। उसी तरह काशी भी है। इसका पुराना नाम शायद तिब्बतियों को मालूम होगा। पास की एक बस्ती का नाम है ग्यान्सू। यहाँ से अठारह मील दूर, पीछे, एक बस्ती मिली धरासू; वह शायद अपने मूल रूप में दार शुङ् रहा हो। पीतल के इस बुद्ध का प्रतिष्ठित होना ही बतलाता है कि इस इलाके का संबंध शङ् शङ् प्रांतीय शासन से रहा होगा।

उत्तरकाशी का बाज़ार बहुत छोटा था। पाँच ही दुकान थीं। लोगों ने बताया—'अभी ठंड है, बीस-पच्चीस रोज़ बाद खुलेगा बाज़ार।' डाक तीन रोज़ पर आती थी। *वीर भारत* (उर्दू) और *विश्व बंधु* (हिन्दी) पढ़ने को सनातन-धर्म-प्रतिनिधि-सभा के पुस्तकालय जाना पड़ता था। एक दिन डाकख़ाना में *लोकयुद्ध* (कम्युनिस्ट साप्ताहिक) का पैकेट देखकर राहुलजी ने कहा—'कलयुग अब उत्तराखंड को भी नहीं छोड़ेगा!' और मुसकुराने लगे।

बीस रोज़ उत्तरकाशी रहकर जब हम गंगोत्री की ओर चले, तो मई का अंत आ गया था। फिर भी सर्दी गई नहीं थी। स्वामी आनंद ने कोको साथ कर दिया था। रास्ते में एक जगह भोटियों के खेमे पड़े थे। एक सधुआइन मर गई थी, सो

उस दिन उनका बिरादरी भोज था। नौ मील पर मनेरी चट्टी मिली। वहाँ आटा बहुत ख़राब मिला।

अब हम देवदार क्षेत्र में पहुँच गए थे। चीड़ों के जंगल पीछे रह गए। सात हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर देवदार उगता है। चीड़ दो हज़ार फीट की ऊँचाई पर। यह बात अपने यहाँ के हिमालय पर लागू समझनी चाहिए। नहीं तो ठंडे देशों के मामूली मैदानों में देवदार कैसे उगता है? मतलब यह कि देवदार बर्फ़ीली जगहों में ही होता है।

आगे भटवारी और गंगनाणी नाम के दो पड़ाव पड़े। गंगनाणी में गर्म पानी का चश्मा है। उसमें एक-एक करके हम नहाए। एक पहाड़ी ने कहा—"यहाँ भगवान शंकर ने लघुशंका की थी, यह वही जल है।' लेकिन पंडों ने उसे डाट दिया और कहा—'वशिष्ट और पराशर ने तप किया था, इसलिए पानी गर्म है।' परंतु हमारी हँसी से प्रोत्साहन पाकर पहाड़ी ने भी पंडों को फटकारा—'गरम पानी के पास बैठकर ठंडी झूठ क्यों बोलते हो?'

सभी ने भभाकर हँस दिया।

लोहारनाग और सुखीन चट्टी के बीच का दृश्य बहुत ही आकर्षक रहा। बागोरी में रोङ्पा लोग रहते हैं। ये हिन्दी-तिब्बती नस्ल के हैं। मुखमुद्रा मंगोल है। इनका व्यापारी क़ाफ़ला, ग्यानिमा और गर्तोक् तक जाता है। अनाज, चीनी, गुड़, मिसरी, दियासलाई, चाकू-कैंची, सूती-कपड़े लेकर जाते हैं और पश्मीना, ऊन, सुहागा, मृगछाला, पंगा नमक आदि लाते हैं। टिहरी राज्य ने पहले इन लोगों को और-और नीच जात वालों की तरह पक्का मकान बनाने के अधिकार से वंचित रखा था, पर अब नहीं।

उनकी बस्तियाँ टिहरी राज्य में तीन ही चार हैं—नेलङ्, जाजोङ् और बागोरी। डूँडा में भी इनके कुछ मकान हैं, जो जाड़ों में आबाद होते हैं।

दिवंगत राजाराम ब्रह्मचारी ने हरसिल में सेब और खुबानी का बाग लगाया था, वह अब फल दे रहा है। हरसिल के सेब काश्मीरी सेवों की भाँति मीठे और स्वादिष्ट होते हैं।

हरसिल में हमे दश-बारह रोज़ रहना पड़ा। यहाँ से चौथा पड़ाव पर गंगोत्री पड़ती है। गंगोत्री जाकर लौट आए, तब यहाँ पर टिक गए। कारण यह था कि थोलिङ् जाने वाला रास्ता भैरां घाटी से अलग हो जाता था मगर साथी यहीं हरसिल में ही मिलने वाले थे। हरसिल और बागोरी क़रीब-क़रीब बसे हुए हैं। देवदार के घने जंगल हरसिल से ही शुरू हो जाते हैं।

लक्ष्मीनारायण का मंदिर और वैदिक पाठशाला। मुखवा के एक पंडा अध्यापक हैं। कुछ रियासत से, कुछ यात्रियों से मिल जाता है। यहाँ भगवान को डालचा

(जंगली प्याज) भी भोग लगाते हैं। राहुलजी ने कहा—'उत्तराखंड के नारायण प्रगतिशील हैं।'

हरसिल से गंगोत्री सिर्फ़ अठारह मील पर है। बीच में एक जगह, भैरों घाटी में कड़ी चढ़ाई है। धराली आठ हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर है। देवदार, कैल और दूसरे कई वनस्पतियों के गगनचुंबी दरख़्त और उनसे पटी हिमाच्छन्न चोटियाँ धराली को सुषमा का अनुपम भंडार बना डालती हैं। यहीं गंगा की प्रखर धार में एक टाँग पर खड़े होकर जप करते हुए किसी बंगाली बैरागी को देखा। वह सुबह से लेकर दोपहर तक गंगा में एक टँगा खड़ा होकर जप करता है और उसके बाद एकभुक्त और फिर आए-गए लोगों से गप-शप।

धराली से गंगोत्री तेरह मील है। दुपहर में चले और शाम को पहुँच गए। रास्ते में भोज के पेड़ भी देखे। जंगलों से रियासत को काफ़ी आमदनी है। सुना, कोई पंजाबी ठेके पर लिए हुए हैं और उसके बराहिल पेड़ कटवाकर तख़्ता चिरवाकर मैदानी इलाक़ों में भेजते रहते हैं। सैकड़ों पहाड़ी मज़दूर जंगलों में फैले हुए थे। कुल्हाड़ी और आड़ों की ठक्क-ठक्क सर्र-सर्र से भागीरथी की मुखरित धार और भी मुखरित हो रही थी। भैरों घाटी के एक तरफ़ से भागीरथी गंगा (गोमुखी से निकलकर) आई है और दूसरी तरफ़ से भोट गंगा आकर उसमें मिलती है। भागीरथी का जल चिकनी मिट्टी के रंग-जैसा है और भोट गंगा का काँच-जैसा हरा। यहाँ अपने 'कैलाश दशक' से एक श्लोक उद्धृत कर देना मुझे प्रासंगिक ही जँचता है :

गंगायाः प्रभवं गवेषयं ततो गत्वोच्चकै र्गोमुखं
प्रत्यावर्तनवर्त्मनि प्रगतिमान् पर्येहि भागीरथीम्
जाह्नव्याः परिपाण्डुरं जलमिदं यत्सङ्गयान् श्यामलं
मा भूस्त्वं शिथिलादरः प्रियसखे तां भोट गंगामनु

(गोमुख जाकर गंगा का उद्गम स्थान खोजो, लौटकर फिर नीचे भागीरथी के पास; और देखना, उस भोट गंगा को मत भूलना कि जिसकी संगति से भागीरथी का पांडुर जल श्यामल बन जाता है।)

गंगोत्री में हम जयपुर वाली धर्मशाला में ठहरे। उस दिन बर्फ़ गिरी थी, इसीलिए सर्दी ज़्यादा थी। बीच में आग जलाकर उसके चारों ओर हमने अपना-अपना बिस्तरा लगाया। सुबह निबटकर गए गंगा की धार। पानी इतना ठंडा था कि कुल्ली और आचमन तक दाँतों को कँपा रहा था! नहाने की आवश्यकता ही क्या थी?

गंगा मंदिर में जाकर गंगा देवी का दर्शन किया। मगरमच्छ पर सवार प्रतिमा।

मंदिर पुराना नहीं है, सौ-सवा सौ साल का है। दर्शन के लिए भोटिया लोग भी आते हैं; सुविधा के लिए तिब्बती में भी मंत्र वग़ैरह लिखे हुए हैं।

गोमुख वहाँ से 14 मील है। अभी रास्ते में बर्फ़ बहुत है, लोगों ने जाने से मना किया।

गंगोत्री की आबादी मुश्किल से सौ के लगभग होगी। दूकानें दो ही थीं। दस-पंद्रह दिनों के बाद यात्री जब ख़ूब आने लगेंगे; पाँच-सात और दूकानें खुल जाएँगी। पंडे उत्सुकतापूर्वक पूछ रहे थे—'यात्री कितने आ रहे हैं? कहाँ तक आ गए होंगे? मारवाड़ी लोग भी उनमें हैं कि नहीं?' वह भला ऐसा क्यों न पूछते जबकि यही दो-तीन मास चाँदी की फ़सल काटते हैं। आश्विन में गंगा का मंदिर बंद हो जाता है तो फिर चैत्र में खुलता है।

गंगोत्री पहले बहुत दुर्गम थी, इधर साठ-सत्तर साल से लोग वहाँ जाने लगे हैं। उसमें पहले यदा-कदा कोई साधु-संत आ गए। मुखवा पंडों का गाँव है। वहीं के पंडे गंगा मंदिर के पुजारी हैं। जाड़े के दिनों में ये लोग गंगा-जल लेकर नीचे उतर जाते हैं और सभी प्रांतों में फैल जाते हैं। गंगोत्री का गंगा जल कितना दुर्लभ है? कितना पवित्र है? कैसा महँगा बिकता होगा, आप ख़ुद अंदाज लगा लीजिए। इससे इन ब्रह्माणों को काफ़ी आय हो जाती है। यही इन सबकी जीविका है। शिक्षा का प्रबंध नहीं रहने से इन लोगों के बच्चे इधर-उधर चलते रहते हैं। खेती बहुत कम होती है।

गंगोत्री से वापस आकर नौ रोज़ हमें हरसिल में रहना पड़ा। यहीं राहुलजी का विचार हुआ कि थोलिङ् देख आवें। चढ़ाई-उतराई की दिक़्क़तों से बचने के लिए उन्होंने एक घोड़ी किराए पर ले ली। दो रुपया रोज़ पर। एक रुपया रोज़ पर आदमी ठीक हुआ। घी और सत्तु, गुड़ और मेवे रोङ्पा लोगों से ख़रीद लिया गया। हमें जो पथ-प्रदर्शक मिला, वह भी रोङ्पा ही था। तिब्बती अच्छी तरह बोलना जानता था।

आगे चलकर मुखवा से इधर एक जगह भग्नावशेष देखने में आया। पूछने पर मालूम हुआ—दो भाई जाकर तिब्बत से सैनिकों को बुला लाया। भोटिया फ़ौज ने आकर इस कछोरागढ़ बस्ती में आग फूँक दी। दूसरा भाई सीमाना (एक बस्ती) में राज करता था, बाद में भोटिया फ़ौज ने उसमें भी आग लगा दी। वहीं एक ध्वज चक्र[1] पड़ा था। उस पर कुछ अभिलेख था, जिसे हम पढ़ नहीं सके, बहुत ही अस्पष्ट था।

---

1. जाँत की शक्ल का बड़ा-सा पत्थर, कील की जगह जिसमें ध्वजा गाड़ दी जाती थी। उसमें गड़े होने के कारण ध्वजदंड कभी गिरता नहीं था। इस प्रकार के बड़े-बड़े ध्वज चक्र कई जगह पड़े हैं।

साढ़े छै मील, कोपङ् जाकर पड़ाव डाला। रोङ्पा ने चाय बनाई—नमकीन चाय। सत्तु और नमकीन चाय आज ही आरंभ हुआ।

अब हम भैरवघाटी से बिलकुल अलग हो गए थे। देवदार के मनोरम जंगलों में से होकर रास्ता था। परंतु कुछ ही दूर बाद कड़ी उतराई आई। मुश्किल से हम भोट गंगा के कछार में उतरे। इसी के किनारे-किनारे थोलिङ् जाना होगा। शाम हो गई थी। घोर निर्जन में हमारी वह रात कटी। जंगली बथुए का साग और खिचड़ी से पेट पूजा हुई थी। भोट गंगा यहाँ से गिरती थी, शिलाओं पर आहत होकर उसकी तरंगें छोटी-छोटी फुहियाँ में उड़ाती थीं। उन फुहियों से सिक्त होते समय मुझे कालिदास याद आए।[1] घोड़ी भी रात-भर धुनी के पास खड़ी रही। उसे चरने के लिए खोल दिया गया था, फिर भी वह कहीं गई नहीं! इस सकाँत अरण्यनी में भूरे और काले भालू बहुतायत से पाए जाते हैं। कभी-कभी तेन्दुआ भी निकल आता है। उन्हीं की गंध से घोड़ी चरने नहीं गई। आग के पास खड़ी रही।

नेलङ् हरसिल से बाईस मील पर है। जब हम वहाँ पहुँचे, तो सारा गाँव ख़ाली पड़ा था। छोटे-छोटे मकान कोठारनुमा—पान की दूकानों जैसे रोङ्पा लोगों का यह ग्रीष्मावास है। वे यहाँ जून के अंत में आ जाते हैं। तब खेत बोते हैं। रब्बी इधर जेठ-आषाढ़ में बोई जाती है और भादो-आसिन में फ़सल तैयार हो जाती है। तैयार अनाज कोठारों में बंद करके फिर ये शीतकाल में नीचे, मैदानों की ओर उतर जाते हैं। कभी-कभी इनका अनाज तिब्बती डाकू लूटकर भी ले जाते हैं। व्यापार पर निर्भर रहने के कारण इस अन्नहानि को ये उतनी बड़ी हानि नहीं समझते।

नेलङ् का रंग-ढंग बिलकुल तिब्बती है। एक गोन्पा (बिहार) भी था—मगर अब उसका भग्नावशेष मात्र मौजूद है। रोङ्पा लोग हिन्दुओं के बीच अपने को राजपूत कहते हैं और भोटियों के बीच भोटिया। ब्राह्मणों को भी अपना गुरु बताते हैं और लामाओं को भी।

जिस दिन पहुँचे, उस रात आलू और पहाड़ी कुकुरमुत्ते का साग बना था। उसमें जिम्बू (तिब्बती प्याज, डालचा) भी पड़ा था। अपूर्व स्वाद था उसका। यह जिम्बू इधर इतना-इतना लोकप्रिय है कि सुखा-सुखाकर इसका पत्ता लोग झोली में रखते हैं और तरकारी में मसाले के तौर पर बरतते हैं।

मुझे नेलङ् में दस दिन रहना पड़ा। एक दुर्घटना हो गई थी, जिससे राहुल जी पीछे लौट आए और मैं अकेले तिब्बत चला गया। दुर्घटना यह हुई कि घोड़ी भोट गंगा पार करते समय प्रवाह में मसिया गई और दो दिन तक धार के बीच एक

1. *भागीरथी निर्झर शीकरणां*
वोढ़ा मुहुः कम्पित देवदारुः —कुमारसंभव

छोटे दियारे पर क़ैद रही। उसका वहाँ से निकलना मुश्किल था। तय था कि चारा के अभाव में बेचारी उसी जगह मर जाती। घोड़ी वाले का यह बहुत बड़ा नुकसान होता। परंतु तीसरे दिन तीन-चार भोटियों ने घोड़ी का उद्धार किया। पानी बेहद सर्द था और बिल्कुल तीव्र। वे लोग कमर में एक-दूसरे से बँध-कर नदी में धँसे और घोड़ी के पास पहुँचे। उसकी गर्दन में मजबूत रस्सी बाँधकर रस्सी की दूसरी छोर धोर की परली ओर फेंक दी। वहाँ दूसरे चार-पाँच आदमी खड़े थे, जिन्होंने रस्सी पकड़ ली। इस प्रकार घोड़ी का उद्धार किया गया। दो-तीन रोज़ खाने-पीने के बाद वह स्वस्थ हुई। तब तक राहुलजी ने अपना विचार बदल दिया। घोड़ी समेत वह हरसिल लौट आए और मैं थोलिङ् जाने वाले किसी व्यापारी की प्रतीक्षा में नेलङ् ही रह गया।

(*पारिजात*, अक्टूबर, '46)

कहानी

ताप-हारिणी

''चलो, आज गंगा नहाएँ।'' अपराजिता ने दातुन करते-करते कहा।

मेरा ध्यान कलेण्डर की तरफ़ गया। आज कोई ख़ास तिथि भी तो नहीं थी। फिर मैंने उसकी इच्छा का अनुमोदन ही किया; विवेचन नहीं।

कदम कुँआँ (पटना) के एक जीर्ण-शीर्ण किन्तु शतायु मकान में हम ठहरे थे। गंगा वहाँ से दूर नहीं है। दरभंगा महाराजा की कोठी गंगा के किनारे पड़ती है; उसके ही पास एक घाट पर नहाने का हमारा विचार हुआ। जेठ का महीना था। दस बजे का समय। उस पार सबलपुर दियरा में जो बालू, अभी से चमकने लगे थे, उनकी तरफ़ निगाह बरबस खिंच जाती थी। मैं सोचने लगा—दुपहरी यहीं नग्न होकर नाचेंगे और अरहर के खेतों की हरियाली में रुद्र-रूपा प्रकृति का अभिसार करेंगे...

''भक्कू बनकर उधर क्या देख रहे हो?''—अपराजिता ने मेरा ध्यान भंग किया।

''देखो न, बालू उस पार कैसे चकमक-चकमक कर रहे हैं।''

''तुम्हें तो हमेशा दूर की ही सूझा करती है।'' अपराजिता ने मेरा हाथ पकड़कर घाट की सीढ़ियों की तरफ़ खींचना शुरू किया। सहसा ध्यान भंग होने के कारण किसी असंबद्ध प्रलापी की भाँति मैं गुर्रा उठा। ''—सु...सु...सु...सुनो तो, कहाँ, उधर कहाँ; अरे, इधर क्यों लिए जा रही हो?''

अपरा को आश्चर्य हुआ—''तुम्हें आज हुआ क्या है? चलो नहाएँ...उधर जनाना घाट है और इधर मर्दाना। किधर चलना है?''

अब मैं प्रकृतिस्थ हो चुका था। सोचा—'रेल के जनाने डब्बों में मर्द घुस नहीं सकते, परन्तु स्त्रियाँ हमारे लिए निर्दिष्ट सीटों पर ख़ुशी से बैठ सकती हैं। यहाँ भी नहाने में वही बात आ गई।' मैंने कहा—''ना भाई, तुम भली जाओ अपने घाट पर; मैं अपना इधर ही नहा लूँगा!''

वह राज़ी न हुई! लाचार हम दोनों वहीं नहाने उतरे, जहाँ 'मर्द' नामधारी जीव कलिमल-हारिणी, भगीरथी का निर्द्वन्द्व अवगाहन कर रहे थे। कोई अपना मोटा जनेऊ सारी ताक़त लगाकर माँज रहा था, कोई स्वधा...स्वधा कहकर अपनी अंजलियों से पुरखों को गंगाजल पिला रहा था। कोई धोती पछीट रहा था। किसी की अँगुलियाँ लोटा मलने में व्यस्त थीं। कोई अलग बैठा संध्या कर रहा था। कुल मिलाकर कोई पंद्रह-बीस आदमी होंगे; परंतु उनमें से भी अधिकांश अधेड़ ही थे।

तीन-चार डुबकियाँ देकर मैं तो लगा तैरने और घाट के पास ही पानी में आकंठ मग्न अपरा अंदर-ही-अंदर शरीर के अंगों को रगड़-रगड़कर नहा रही थी। मुझे लगा कि इतने आदमियों के बीच एक तरुणी के आ जाने से सभी की मनसा चंचल

हो उठी है। कोई कनखी से, तो कोई सीधे ही, सभी उस कल्याणी के अर्द्धनग्न अवयवों की ओर, जो कभी जाह्नवी के श्यामल-नील सलिल में से झलक उठते थे, टकटकी लगाए हुए थे। तर्पण करने वाले उस श्रद्धालु कुलपुत्र ने इस संभ्रम में पड़कर दुबारा तर्पण आरंभ कर दिया। जो धोती पछीट रहा था, उसकी बाहें शिथिल पड़ गईं। जनेऊ माँजने वाला अपनी बेचैनी को छिपाने के लिए बार-बार खाँसने लगा। लोटा मलने वाले की अँगुलियाँ कटते-कटते बचीं।

तैरने और उससे भी अधिक वास्तविकता के इस परिज्ञान से मुझको बड़ा आनंद आ रहा था। उसी उल्लास के मारे मैंने अपरा से पूछा—"तैरना नहीं सीखोगी?"

"यह भी क्या मुश्किल काम है?" उसने हाथ से इशारा किया—'आओ भी!' मैं नज़दीक आ गया, तो वह फुसफुसाकर कहने लगी—"सभी मुझे घूर रहे हैं; चलो, चलें।"

क्षण-भर के बाद मैंने कहा—"वैशाख की अक्षय तृतीया को लोग जलपूर्ण घट का दान करते हैं कि प्यांसे आदमी जी भरकर पानी पीयेंगे और आज जेठ की तृतीया है कितनी प्यासी आँखें तुम्हारी ओर आशा लगाए हुई हैं।"

बीच में ही उसने तर्जनी उठाई और भर्त्सना व्यक्त करने के लिए ठुड्डी टेढ़ी करके भौंहे नचाने लगी।

"सच! बहुत ही पुण्य होगा। भूखे को मुट्ठी-भर अन्न और प्यासे को ग्लास-भर पानी चाहिए! हम दोनों तो साथ रहते ही हैं। तुम्हारी जवानी का यह सौन्दर्य..."

अब उससे न रहा गया। पानी के अंदर-ही-अंदर उसने मुझे चकोटी काट ली और अपने पैर के अँगूठे से मेरे पैर को कसकर दबाया। शायद इतनी धृष्टता की आशा उसको मुझसे नहीं थी। मैं सात वर्ष की घुमक्कड़ी के बाद घर लौटा था और अपने को वैसा पतिदेव नहीं समझ रहा था। 'परंतु' का जो दंभ संभ्रांत परिवार की देहाती महिलाओं में पाया जाता है, अपराजिता भी उसका अपवाद नहीं थी। मैं अपने बदले हुए स्वभाव अनुसार जब उससे हास-परिहास करता, तो वह कभी-कभी बुरा मान जाती। एक यह भी समस्या थी कि वह इससे पहले कभी नागरिक वातावरण में नहीं आई थी और मैं चाहता था कि शीघ्र-से-शीघ्र इसको कुछ साहसिकता के पाठ पढ़ा दिए जाएँ। मिथ्या संकोच की कृत्रिम भावना; जो औसत हिन्दू परिवारों में घर किए हुए है, इसके विरुद्ध मैं अपराजिता को तैयार करना चाहता था।

हम नहाकर बाहर निकले। लेकिन उस दिन जब तक अपरा ने घाट नहीं छोड़ा; तब तक वहाँ से कोई विदा नहीं हुआ। मुझे उस समय मैक्सिम गोर्की का वह उपाख्यान याद आया, जिसमें सत्ताईस पात्र थे—छब्बीस मर्द और एक औरत।

कहानी

विशाखा मृगारमाता

अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है, वह है भगवान तथागत की अगवानी।

मैं छह या सात साल की थी। एक दिन दादा ने मुझसे कहा—"भद्रे, सबका भला चाहने वाले शाक्यसिंह गौतम बुद्ध आज हमारे नगर में पधार रहे हैं। अपनी सहेलियों के साथ जाओ तुम भी भगवान का स्वागत करो। फिर कहाँ मिलेगा ऐसा अवसर?"

तब हम रथों पर सवार होकर तथागत की अगवानी करने गई थीं। यह बात आज भी मुझे ज्यों-की-त्यों याद है। दूसरे दिन, मेरे दादा ने भिक्षु-संघ को अपने यहाँ जिमाया था। कब जमात किसी दूसरी जगह के लिए चल पड़ी थी, सो मुझे याद नहीं आता।

गंगा के दक्खिन, अंग देश में एक छोटा-सा नगर मद्रिका है। मेरे दादा वहीं के रहने वाले थे। नाम था मेड़क सेठ। बनियों की बहुत बड़ी ख़ानदान के कुलपति थे। मगधराज बिम्बिसार ने मेरे दादा को नगर सेठ की सम्मानित पदवी दी थी। व्यापारियों के लिए भला इससे बढ़कर सम्मान की वस्तु और हो ही क्या सकती है?

धनंजय सेठ की मैं लड़की हूँ। माँ का नाम था सुमन। हमारे पितृकुल में न धन की कमी थी, न जन की। मगध का राजकीय कोष जब रिक्त हो जाता था, तो महामात्य वर्षकार मेरे दादा के पास दूत भेजते थे—"पचास हज़ार स्वर्ण मुद्रा महासेठ भेजें, आवश्यक है।"

दूत को निराश नहीं लौटना होता था। वह सरकारी हाथियों पर अशर्फ़ियाँ लदवाकर राजगिर पहुँचता था। इस प्रकार लिया हुआ ऋण मगधराज एक ही मुश्त चुका नहीं पाते थे। बेचारे कहाँ से चुकाते? सेठों का मुक़ाबिला ये राजा लोग कैसे करेंगे? मेरे मायके से मणि-मुक्ता आदि बहुमूल्य वस्तुएँ आती रहती हैं। यहाँ श्रावस्ती के नगर द्वार पर चुंगी वाले बहुधा अधिक महसूल उसके लिए लिया करते हैं। ऐसे मौक़ों पर मैं ख़ुद ही राजा के पास तस्फिहा के लिए पहुँचती हूँ। कई बार ख़ाली ख़ज़ाना दिखलाकर प्रसेनजित् ने मुझसे कहा है—"विशाखा, हमारे पास फ़ौज है, हथियार हैं, ताक़त है। मगर सोना-चाँदी तो तुम्हीं लोगों के ज़िम्मे है। राज-शक्ति हमेशा वणिक्-शक्ति की मोहताज रहेगी। और, उसकी यह बात बे-बुनियाद नहीं थी। मैंने अपने मायके में देखा है, बीसियों चहबच्चे अशर्फ़ियों से

भरे पड़े हैं। ऊपर साख के तख़्तों से उन्हें पाट दिया गया है। ताले लगे रहते हैं। क़ीमती मालों से लदे बड़े-बड़े बजड़े सुवर्ण द्वीप से भी आगे तक जाया करते हैं। स्थल-मार्गों से होकर हज़ार-हज़ार बैल गाड़ियों के हमारे क़ाफ़ले कुभा (काबुल) से लेकर केरल तक और भरौंच से लेकर आसाम तक आते-जाते रहते हैं। हमारा वणिक्-समाज नए-नए शिल्पों और नई-नई विद्याओं को एक देश से दूसरे देश में पहुँचा देता है। वैश्यवर्ग अपना हाथ पीछे खींच ले, तो तक्षशिला उजड़ जाए, वहाँ सियार भूँकने लगे...।

मैं जब आठ वर्ष की हुई तो मेरा बाप साकेत में आकर बसा। इसकी भी एक विचित्र कथा है। कोसलराज प्रसेनजित् ने एक बार मगधराज बिम्बसार को पत्र भेजा—''हमारे राज में यों तो बहुत बनिए हैं, मगर पुश्त-दर-पुश्त महान् ऐश्वर्यशाली बनियों का भारी ख़ानदान एक भी नहीं है। मगध में अनेक हैं। उनमें से किसी एक महाकुल को हमें दे दें। हम उसे अपने राज्य में बसाएँगे।''

बिम्बसार ने सोच-विचारकर जवाब दिया—''किसी ऐसे ख़ानदान को हम अपने यहाँ से हटा नहीं सकते।''

कोसलराज के दूत ने कहा—''बिना पाए मैं जाऊँगा ही नहीं।''

तब मगधराज ने मंत्रियों से परामर्श किया और दूत को सूचित किया—''व्यापारियों के किसी बड़े कुल को चलाना धरती के चलाने की भाँति मुश्किल और भारी है, किसी कुलपति वणिक् से सलाह करके आख़िरी बात कहूँगा।''

राजा ने मेरे बाप को बुलाकर पूछा—''भैया, कोसलराज एक धनी सेठ को ले जाकर अपने यहाँ बसाना चाहता है, जाओगे?''

''आपका हुक्म होगा तो जाऊँगा देव!''

''तो जाओ, इंतजाम करो।''

''अच्छा देव!''

मेरा बाप जाने की तैयारियाँ करने लगा। हमें अपनी चिरपरिचित भूमि को छोड़ना अच्छा नहीं लगा। लेकिन बाबू ने घर में सभी को समझाया—''अपने राजा की इज़्ज़त का सवाल है, और सो भी, जाना-न-जाना या फिर वापस आ जाना हमारी अपनी मौज पर है। तो हर्ज़ ही क्या, हमें चलना चाहिए।''

बिम्बसार और प्रसेनजित् एक-दूसरे के बहनोई होते थे। धनंजय सेठ हमारे यहाँ आने को तैयार हैं, यह सुनकर कोसलराज ख़ुद राजगिर आया और बहुत आदर-सत्कार से हमें ले चला। घरेलू सामानों से लदी सैकड़ों गाड़ियाँ हमारे पीछे थीं। हम आगे-आगे चल रहे थे—रथों पर। अपने लाव-लश्कर के साथ राजा भी साथ चल रहा था।

दूसरे पड़ाव पर मेरे बाप ने राजा से पूछा—"देव, यह किसकी सीमा के अंदर है?"

"अपनी"—प्रसेनजित् ने जवाब दिया।

"यहाँ से श्रावस्ती कितनी दूर है?"

"सात योजन (अट्ठाईस कोस)।"

तिस पर बाबू ने कहा—"नगर में भीड़-भाड़ अधिक होती है, हमारे स्वजन-परिजन कम नहीं हैं। दास-दासियाँ भी कम नहीं हैं। यदि देव, तुम्हारी आज्ञा हो तो हम यहीं बसें।"

"अच्छा, गृहपति! जैसी तुम्हारी मर्जी।"

फिर अपने एक आमात्य को हमारे बसने-बसाने का भार देकर राजा श्रावस्ती चला गया।

सरयू नदी के किनारे हमारी वह बस्ती बहुत जल्दी ही तैयार हो गई। बस्ती क्या, नगर ही न कहिए। हमारा यह नया नगर साकेत के क़रीब ही पड़ता था।

[2]

श्रावस्ती का सेठ मृगार अपने पुत्र पूर्णवर्द्धन को जवान देखकर उसकी सगाई के लिए लड़की ढुँढ़वा रहा था। उसके आदमी साकेत पहुँचे।

उस दिन मैं अपनी सहेलियों के साथ एक तालाब में जलकेलि करने गई थी। मृगार सेठ के आदमी नगर के अंदर अपनी पसंद की लड़की न पाकर बाहर खड़े थे—तालाब के पास। एकाएक ज़ोर का पानी बरसने लगा। मेरी सहेलियाँ कपड़े बदल-बदलकर भागने लगीं। उनमें से एक भी मृगार सेठ के आदमियों को पसंद न आई।

मैं सबसे पीछे थी। मुझे मेघ बरसने की परवाह नहीं थी। मुझे इत्मीनान से चली जाते देखकर सेठ के आदमियों ने सोचा—"ख़ूबसूरत तो ख़ैर और भी मिल जाएगी, मगर बोल न जाने इस लड़की का कैसा है? कदाचित् कर्कशा निकली तो..." "बेटी"—उनमें से एक ने मुझे टोका—"बुढ़िया जैसी लगती है तू!"

"क्यों? क्या देखकर ऐसा कहते हो चाचा?"—मैंने पूछा।

उस आदमी ने कहा, "तेरी सहेलियाँ भीगने के डर से कूदती-फाँदती शाला (सराय) के अंदर पहुँच गईं और तू बुढ़िया की चाल से चल रही है। यह क़ीमती साड़ी भीगकर ख़राब हो जाएगी, इस बात की भी तुझे परवाह नहीं है। बिगड़ा हुआ हाथी या घोड़ा पीछा करे तो क्या करेगी?"

मैं बोली—"अजी, रहने भी दो। साड़ियों की कमी हमारे यहाँ नहीं है, जितनी

चाहो दिलवा दूँ। धीरे-धीरे तो मैं इसलिए चल रही हूँ कि ठेस न लग जाए, गिर न पड़ूँ, हाथ-पैर न टूट जाएँ। सयानी लड़कियाँ बिकाऊ बर्तन की तरह होती हैं। जिसका अंग-भंग हो गया, ऐसी स्त्री से लोग घृणा करते है। उसको ग्रहण करने के लिए मुश्किल से ही कोई तैयार होता है।''

यह सुनकर वे चुप हो गए। उनके चेहरे पर प्रसन्नता के भाव झलक आए। उनमें से किसी ने मेरी ओर माला फेंकी। वह माला ठीक मेरे गले में पड़ गई। मैं विनम्र होकर वहीं-की-वहीं भूमि पर बैठ गई; क्योंकि अब मेरी सगाई हो चुकी थी। अब मैं परिगृहीत थी।

मुझे वहीं कनात से घेर दिया गया। अपनी सहेलियों के साथ तब मैं घर पहुँची। सेठ के आदमी भी हमारे घर पहुँचे। मेरे बाप ने उनसे पूछा—''भाइयो, कहाँ के रहने वाले हो?''

''हम श्रावस्ती रहते हैं, मृगार सेठ के आदमी हैं। तुम्हारे घर में सयानी लड़की है, इसी से सेठ ने हमें भेजा है।''

''अच्छा, तुम्हारा सेठ धन में हमसे ज़रा ही दब है; लेकिन जाति में बराबर है। सब तरह से बराबर का मिलना तो मुश्किल ही है। जाओ, अपने सेठ को हमारी मंज़ूरी दे दो।''

मृगार सेठ को यह सब सुनकर बड़ी ख़ुशी हुई। बारात की तैयारियाँ होने लगीं। सेठ स्वयं राजा को निमंत्रण दे आया। राजा ने बारात में शामिल होने की बात मंज़ूर कर ली।

मेरा बाप आगे बढ़कर राजा को लिवा ले आया। बारात के लिए ठहरने और खाने-पीने का प्रबंध अपूर्व था। सभी ने मेरे पिता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। विवाह का महोत्सव कई दिनों तक चलता रहा। कोसल-राज ने मेरे पिता को कहला भेजा—''चिरकाल तक सेठ हमारा इंतजाम नहीं कर सकते, लड़की विदाई का मूहूर्त निश्चित करें।''

जवाब में मेरे बाप ने कहला भेजा—''बरसात की शुरुआत है, यह चौमासा अब यहीं बितावें। आप लोगों का सारा भार मेरे ऊपर। कोई ख़ास तकलीफ़ हो तो बतलाने की कृपा करें। आए हैं अपने मन से, परंतु जाएँगे तब, जब हमारा मन होगा।''

राजा के लगातार मौजूद रहने से साकेत नगर ऐसा लगता था, मानो वह कोई नित्य-उत्सव वाली दुनिया हो।

इस प्रकार तीन मास व्यतीत हुए। मेरी 'महालता' आभूषण तब तक भी तैयार नहीं हो सकता था। एक दिन कारपर्दाज आकर बोले—''मालिक और सब तो ठीक

है, मगर जलाने की लकड़ी घट गई है।''

मेरे बाप ने कहा—''जाओ, हस्तिशाला, अश्वशाला, गोशाला काफ़ी हैं, उन्हें उजाड़कर जलाओ। इससे भी पूरा न पड़े तो, गोदाम खोलकर मर्जी मोताबिक मोटे कपड़े ले लेना, तेल के मटके निकाल लेना। तेल में भिंगो-भिंगोकर कपड़े जलाना।''

इस तरह चौमासा पूरा हुआ। तब तक मेरी 'महालता' तैयार हो चुकी थी। कल मैं विदा होऊँगी, तो आज पिता ने पास बैठाकर मुझे कहा—''बेटी, अब तू अपने घर जाती है। हम तेरे लिए पराए बन जाएँगे, सास-ससुर, पति-देवर, यही लोग अब तेरे स्वजन होंगे...''

मेरा ससुर, मृगार सेठ, अंदर लेटा हुआ था। ये बातें उसके भी कान में जा रही थीं। मेरे पिता ने कहना जारी रखा, ''...बेटी, ससुराल में रहते समय इन दस बातों का ख़याल रखना—

1. भीतर की आग बाहर न ले जाना। 2. बाहर की आग भीतर न ले आना। 3. देने वाले को देना। 4. न देने वाले को नहीं देना। 5. नहीं देने वाले को भी देना। 6. इत्मीनान से बैठना। 7. इत्मीनान से खाना। 8. इत्मीनान से लेटना। 9. अग्नि की परिचर्य्या करना। 10. भीतर के देवताओं को नमस्कार करना...।''

इतना कहकर उसने मेरे माथे और पीठ पर हाथ फेरा; फिर जाति-बिरादरी वालों को इकट्ठा करके उनमें से आठ पंचों को बुलाकर पास बैठाया। वहाँ मेरा ससुर भी मौजूद था। मेरे बाप ने पंचों से कहा—''श्वसुर-कुल में जाकर यदि मेरी लड़की कुछ अपराध करे या उस पर किसी प्रकार के अभियोग कोई लगाए तो भाइयो, उसका फ़ैसला तुम्हीं लोग करना।''

नौ करोड़ अशर्फ़ियों की लागत से 'महालता' तैयार हुई थी। बिदा होते समय यह क़ीमती आभूषण माँ ने आकर मुझे पहना दिया। प्रसाधन और शृंगार की सामग्री के लिए चौदह सौ गाड़ी धन, पाँच सौ दास, पाँच सौ दासियाँ, ऊँची नस्ल की पाँच सौ घोड़े-घोड़ियाँ और भी बहुत सारी चीज़ें माँ-बाप ने मेरे साथ कर दीं। बारात में जो गए थे, उनमें से प्रत्येक को पाँच-पाँच हज़ार का दुशाला और एक-एक जोड़ी रेशमी धोती दी गई। मेरे ससुर को औरों से दुगुना सत्कार हुआ था। कोसलराज को वलय, कुंडल, केयूर, ग्रैवेयक (गले की चकती), हार और उष्णीष भी मिले थे। उन्हें और वस्तुओं के अलावा दो बड़े-बड़े हाथी भी मिले थे। मेरे पति को परिधान, आभूषण, ओछावन, यान, वाहन आदि सभी चीज़ें अलग से मिली थीं।

[3]

ढँके यान में नहीं, खुले रथ में बैठकर मैंने श्रावस्ती में प्रवेश किया। 'महालता' देखकर लोग कहते—"धनंजय सेठ की लड़की विशाखा-जैसी स्वयं है, वैसा ही इसका यह आभूषण! वाह रे, सौभाग्य!"

अपने पितृकुल के महान् ऐश्वर्य का प्रदर्शन करती हुई मैं श्वसुर-कुल में प्रविष्ट हुई। अगले दिन लोगों ने अपनी-अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार मेरे लिए उपायन भेजे। उन वस्तुओं को रखकर मैं करती ही क्या? नगर भर में बायना बँटवा दिया।

हाँ, एक बात तो भूल ही गई मैं! जिस दिन अपनी ससुराल में मैंने प्रवेश किया, उसी रात अच्छी नस्ल की एक सिन्धी घोड़ी को प्रसव-वेदना हुई। दंड-दीपिका (मशाल) जलवाकर दासियों के साथ मैं स्वयं घुड़सार गई। प्रसव के बाद गर्म पानी से घोड़ी को नहलवाया, तेल से मालिश करवाया, फिर आकर सो गई।

अपने लड़के की शादी के उछाह में सेठ ने सात दिनों तक उत्सव मनाया।

सातवें दिन साधुओं का भंडारा था। ससुर ने मुझे कहला भेजा—"बेटी, ये वीतराग और पहुँचे हुए संतजन कहाँ मिलेंगे? आओ, इनके दर्शन तो कर लो।"

मैं हुलसी हुई बाहर गई। मकान के बाहरी खंड में देखा, नंग-धड़ंग साधु खाना खा रहे हैं। देखते ही मुझे उनसे घृणा हो गई...यह भी क्या साधुता है! इन्हें और कोई मिला ही नहीं, नंगों की जमात को जिमा रहे हैं।

अपने ससुर पर मुझे गुस्सा आया कि इन निर्लज्जों के पास बुलाया ही क्यों कर। उलटे पैर मैं अंतःपुर लौट आई। मुझे लौटती देखकर नग्न श्रमणों ने सेठ को धिक्कारा—"गृहपति, क्या कोई और लड़की तुम्हें नहीं मिली जो इस कुलच्छनी को उठा लाए हो? निकालो इसे घर से नहीं तो फिर कभी हम यहाँ पैर नहीं देंगे...।"

मेरे ससुर ने अपने बत्तीसी दाँत निपोड़ दिए। उसने सोचा—यह बहुत बड़े घर की लड़की है, इन साधुओं के कहने से तो इसको निकाल सकते नहीं।

फिर दोनों हाथ जोड़कर सेठ बोला—"आचार्यों, जान में चाहे अनजान में बच्चे जो कुछ कर गुज़रें, उसे माफ़ करना ही पड़ेगा।"

तब उनका क्रोध शांत हुआ। खा-पीकर वे विदा हुए।

[4]

सोने की कलछी से परोसी गई खीर सोने की थाली में सेठ खा रहा था। वह बड़े से आसन पर बैठा हुआ था। ठीक उसी समय एक स्थविर भिक्षु भिक्षा के लिए वहाँ

आए। चिथड़ों से सिला चीवर उसके बदन पर था। हाथ में काठ का बना भिक्षापात्र था।

वह बहुत देर तक उसी भाँति खड़े रहे। मेरे ससुर ने उधर ताका तक नहीं। तब मुझसे नहीं रहा गया। मैं बोली—"आगे जाइए, भंते, मेरा ससुर अभी मुँह नीचा किए खीर खा रहा है। वह अपना पुराना खाना खा रहा है!"

यह सुनते ही खीर पर से उसने हाथ खींच लिया। दासी से कहा—"ले जाओ, मैं नहीं खाता। और इसे भी निकालो घर से। यह मुझे अशुचिभोजी कह रही है।"

मगर उस घर में जितने नौकर-चाकर थे, इतने ही दिनों में वे मेरे अधीन हो चुके थे। हाथ और पैर पकड़ना तो दूर, कोई कुछ बोल तक नहीं सकता था। मैंने ससुर से कहा—"तात, इतने-भर से तो मैं निकलती नहीं। पनघट से पकड़कर लाई गई लौंड़ी होती, तो डर भी जाती। जीते माता-पिता की कन्याएँ इतनी आसानी से नहीं निकला करतीं। इसके लिए तुम्हें हमारे मायके के उन पंचों को बुलाना पड़ेगा। वे अगर मुझे अपराधी क़रार दें तो मैं चली जाऊँगी।"

पंच बुलाए गए। उन्होंने मुझसे पूछा—"क्यों अपने ससुर को अशुचिभोजी कहा तुमने?"

मैं बोली—"कहने का मतलब मेरा यह कहाँ था? मैंने तो सिर्फ़ इतना ही कहा था कि पुराना खा रहा है मेरा ससुर, यानी पुराने पुण्य का फल खा रहा है। इस जन्म में उसे नया पुण्य नहीं करना है। ऐसा भी मैंने इसलिए कहा था कि एक बूढ़े भिक्षु को सेठ ने भिक्षा नहीं दी।"

इस पर पंचों ने मुझे निर्दोष प्रमाणित किया। तब मेरे ससुर ने मुझ पर दूसरा अभियोग लगाया कि यह जिस दिन आई, उसी रात किसी और जगह चली गई। घोड़ी ब्याने की बात सुनकर पंचों ने इस अभियोग से भी मुझे बरी कर दिया; बल्कि ज़ोर देकर उन लोगों ने सेठ से कहा—"भाई, हद कर दी तुमने भी! हमारी लड़की आते ही तुम्हारे यहाँ ऐसा काम करने गई, जैसा नौकर-चाकर भी करते हिचकिचाएगा। अब उलटे तुम इस पर कीचड़ उछालते हो!"

तब भी मेरा ससुर चुप नहीं हुआ। पंचों से उसने कहा कि विदा होने के दिन उस लड़की को बाप ने जो उपदेश दिए उनसे मैं तो तबाह हो जाऊँगा।

मुझे अपने ससुर की नासमझी पर भीतर-ही-भीतर हँसी आई। कितनी सीधी बात, और यह बेचारा समझ नहीं पाया। मैंने पंचों से कहा कि बाहर और भीतर की आग का अभिप्राय है, बाहरी और घरेलू झगड़े से। यह कुलवधू का काम नहीं है कि घर की कलह बाहर फैलावे और बाहर की कलह घर में ले आवे। देने वाले को देना न देने वाले को नहीं देना, यह भी कोई रहस्य की बात नहीं कही मेरे बाप

ने। न देने वाले को भी देना ही होता है। अतिथि, ब्राह्मण और साधु संत इसी वर्ग में आते हैं। इतमीनान से बैठने, खाने, लेटने का मतलब यह है कि गुरुजनों को खिला-पिलाकर, उनकी सारी परिचर्या करके, तब कहीं जाकर कुलवधू को बैठना, खाना और फिर लेटना चाहिए अन्यथा कई प्रकार की गड़बड़ी हो सकती है। अग्नि की परिचर्या से आशय था सास-ससुर आदि श्रेष्ठजनों की सेवा-सुश्रूषा का। देवताओं से अभिप्राय था साधु-संत का। अब आप ही लोग बतलावें, मेरे बाप ने कौन-सा बुरा उपदेश दिया था?

पंचों ने कहा—"बोलो सेठ, हमारी लड़की का और भी कोई क़सूर है?"

मेरा ससुर सिर नीचा किए हुए बैठा रहा। उसके मुँह से एक भी बोल नहीं फूट रहा था।

"बोलते क्यों नहीं"—पंचों ने ज़ोर देकर पूछा।

वह आहिस्ते से बोला—"नहीं आर्यो, नहीं।"

"तो नाहक़ ही बेचारी को घर से क्यों निकालते थे।"

सेठ मानो गूँगा-बहरा बन गया था। अब मेरी बारी आई। मैंने कहा—"आते समय माँ-बाप ने मुझे तुम लोगों के सुपुर्द किया था कि लड़की के बुरे-भले की निगरानी रखना और यह बिना क़सूर मुझे यहाँ से निकाल रहा था। ख़ैर, अभियोग तो सारे बेबुनियाद निकले। लेकिन अब मैं छन-भर भी इस घर में नहीं रहूँगी।"

दास-दासी जन नज़दीक ही खड़े थे। उनसे कहा—"सवारियाँ तैयार करो।"

फिर उन पंचों की बाँह पकड़कर सेठ ने कहा—"अम्म, अनजाने कहा था। मुझे क्षमा कर।"

"क्षमा करती हूँ तात"—मैंने कहा—"मगर भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत अनुरक्त कुल की मैं लड़की ठहरी, हम तथागत के भिक्षु-संघ की सेवा किए बग़ैर रह नहीं सकतीं। यदि अपनी रुचि के अनुसार बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ की सेवा सुश्रूषा करने पाऊँ तो रहूँगी।"

सेठ ने मंज़ूर किया।

कुछ ही महीने बाद मुझे अवसर मिला—बुद्ध और भिक्षु-संघ को आमंत्रित करने का। उस दिन कनात की आड़ से मेरे ससुर ने भगवान का उपदेश सुना और प्रभावित होकर उपासक बन गया। तब मुझे उसने कहा—"बेटी, आज से तुम मेरी माता हो।"

और तभी से लोग मुझे मृगारमाता कहते आए हैं।

श्रावस्ती के दक्खिन सेठ अनाथपिण्डक ने जेतवन में बहुत बड़ा एक विहार बनवाया है। नगर के पूरब ओर जो विहार है, वह मेरा बनवाया हुआ है। भगवान

जब यहाँ रहते थे तो कभी अनाथपिण्डक के यहाँ से और कभी हमारे यहाँ से भिक्षा ले जाते। उन सम्यक् संबुद्ध तथागत भगवान की मुझ पर अपरिसीम करुणा थी। भिक्षु-संघ के लिए एक महाविहार बनवाने की मेरी अभिलाषा थी। तथागत ने मेरी बात मान ली। इसके लिए मुझे थोड़ी-सी चतुरता का सहारा लेना पड़ा।

एक दिन जान-बूझकर मैं अपनी महालता जेतवन में भूल आई। गई थी उपदेश सुनने। वापस आकर दासी से कहा—"महालता भूल आई हूँ, ज़रा लेती आओ। परन्तु स्थविर आनंद ने यदि अपने हाथ से उठाकर उसे कहीं रख दिया हो तो मत लाना। भिक्षु की स्पर्श की हुई फिर गृहस्थ को नहीं लेनी चाहिए।"

मेरा अंदाज़ सही निकला। मगर फिर उसे मैंने मँगवा लिया कि भिक्षुओं को इतने महामूल्य आभूषण की हिफ़ाजत में दिक़्क़त उठानी पड़ेगी। चाहती थी कि कोई इसे ख़रीद ले; पर नौ करोड़ अशर्फ़ी देने को श्रावस्ती में कौन तैयार था? मैंने तथागत से सारी बात कही। नौ करोड़ की लागत से नगर के पूरबी दरवाज़े के पास यह महाविहार बना और महालता अब भी मेरे पास है।

भिक्षुओं और भिक्षुणियों का जीवन मुझे इतना कठोर और अव्यवस्थित प्रतीत हुआ कि तथागत से एक दिन इस संबंध में अपनी कुछ बातें मैं मनवाकर ही रही। कपड़े के अभाव में भिक्षु नहाते कम थे। बरसात में नंगा नहाते थे। यह बात मुझे अपनी दासी से मालूम हुई थी। नंगापन से अपने को बेहद नफ़रत है। मैंने तथागत से कहा कि बरसात के दिनों के लिए एक-एक अतिरिक्त अंतरवासक (पंचहत्थी धोती या लुंगी) भिक्षुओं के लिए मैं संघ को दिया करूँगी। आगंतुक भिक्षुओं के लिए भिक्षा भी नियमित रूप से मैं ही दूँगी। वे बेचारे आते हैं, थके-माँदे ही उन्हें श्रावस्ती की गलियों में भिक्षा के लिए भटकना पड़ता है। दो-चार दिन या दस-पाँच दिन मेरे यहाँ से भिक्षा पाकर वे फिर यहाँ की गलियों से वाकिफ़ हो जाएँगे।

बीमार और उनके परिचारक भिक्षुकों के लिए अन्न-पेय, दवा-दारू या उपयोगी वस्तुओं की ज़िम्मेदारी भी मैंने ली, क्योंकि इस दृष्टि से भी संघ का बुरा हाल था। भिक्षुणियाँ वेश्याओं के साथ एक ही घाट पर नंगी नहाती थीं। वे भिक्षुणियों को ताना मारती थीं—"मौज करो आर्याओ, नंगी नहाओ और वन-उपवन में जाकर पुरुषों के साथ सैर-विहार भी करो। बुढ़ापे में थोड़ा-बहुत धर्म कर लेना! अभी क्या पड़ा है।" दासियों के मुँह से यह सुनते-सुनते मैं अपने आप ही लज्जित हो जाती। आख़िर भिक्षुणिओं के लिए भी अतिरिक्त साड़ियों का मैंने इंतजाम करवाया।

तथागत को किसी बात का आग्रह तो था नहीं। उपर्युक्त बातें वह तुरंत मान लेते थे। सैकड़ों बार मुझे उनकी बातें सुनने का अवसर मिला। कभी आवेश में आकर तथागत को बोलते नहीं सुना। उनका जीवन बहुत ही शांत, नियमित और

स्वाभाविक था।

जब मैं पागल हो गई तो तथागत ने तरह-तरह की उपमाएँ देकर मुझे स्वस्थ किया। मैंने बड़ी कोशिश की कि अपने पति और पुत्र को बुद्ध के प्रति अनुरक्त करूँ, परन्तु पूर्व जन्म के प्रत्यवाय से वे इस महामानव की ओर आकृष्ट नहीं हो सके। यह घर-बार, यह वैभव मुझे फीका लगता हो सो बात नहीं, परंतु तथागत की करुणामय दृष्टि यदि मुझ पर न पड़ी रहती तो निश्चय ही जीवन मेरे लिए भार स्वरूप हो जाता। भिक्षुणी यदि मैं नहीं हो सकी तो यह मेरी कमज़ोरी ही है।

अपने दास दासियों को मैंने कई दफ़े मुक्त कर दिया है; परंतु वे लौट-लौटकर फिर यहीं आ जाते हैं। दो दास पुत्रों को पढ़ने के लिए तक्षशिला भेजा था। उनमें से एक चोरी के कारण दंडित होकर भाग आया है। दूसरा पढ़ने में इतना मंद निकला कि किसी आचार्य ने उसे वहाँ नहीं रहने दिया, वह आजकल मज़दूरी करता है। कुछ दासों को मैं वाणिज्य में लगाना चाहती थी। इसमें भी मुझे कम ही सफलता मिली। दास भिक्षु-संघ में दाख़िल नहीं हो सकेंगे, यह नियम तथागत ने बना दिया ज़रूर; लेकिन मैं तो उन्हें मुक्त करके तब संघ में प्रविष्ट होने को कहती हूँ। जाने क्यों, भिक्षु-संघ की सुविधा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती।

(*पारिजात*, मई '47)

''सुर्ती फाँकोगे नागार्जुन?''

''जिस नदी का प्रवाह रुक जाता है, वह फिर बह नहीं सकती है। फिर तो सेवार की हज़ारों ज़ंजीरें उसे आकर जकड़ लेती हैं।

''जिस जाति के जीवन का नाश हो गया है, जो जाति अचल और जड़वत् हो गई है, उसे भी पग-पग पर जीर्ण लोकाचार जकड़ लेते हैं।

''जो आम रास्ता है, जिस पर लोग चलते-फिरते हैं, उसमें कभी घास नहीं उग सकती। इसी तरह जो जाति कभी चलती नहीं, उसके पथ पर तंत्र, मंत्र और संहिताएँ भी पंगु हो कर रह जाती हैं।''[1]

रवीन्द्र की तरह निराला भी आजीवन इसी प्रकार समाज की गतिहीनता पर घुटते रहे। गढ़ाकोला और डलमऊ ही नहीं, लखनऊ-इलाहाबाद भी उनकी उस घुटन के साक्षी रहेंगे। महँगू ने आज से पच्चीस वर्ष पहले कहा था :

हमारे अपने हैं यहाँ बहुत छिपे हुए लोग
मगर चूँकि अभी ढीला पाली है देश में
अख़बार व्यापारियों की संपत्ति हैं
राजनीति कड़ी से कड़ी चल रही है
ये सब जन मौन हैं...

निराला जी मौन नहीं रह सके! उन्हें विषमता की कटु अनुभूतियों ने कभी चैन नहीं लेने दिया। यह बेकली, यह छटपटी महज़ बौद्धिक स्तर पर खुरचती होती तो और बात थी; इसने तो निराला के दिल को ही सुलगा दिया था। फिर भी वे वर्तमान में ही उलझ कर नहीं रह गए। उन्होंने साफ़ देखा कि लोग :

उठेंगे
और बड़े त्याग से निमित्त कमर बाँधेंगे

1. जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे
सहस्र शैवाल-दाम बाँधे आसि तारे
जे जाति जीवनहारा अचल असार
पदे-पदे बाँधे तारे जीर्ण लोकाचार
सर्व जन सर्व क्षण चले जेई पथे
तृण-गुल्म सेथा नाहि जन्मे कोन मते
जे जाति चले ना कभू, तारि पथ परे
तंत्र मंत्र संहितार चरण ना सरे

आएँगे वे जन भी देश के धरातल पर...

निराला ने अपने एक निबंध[1] में कहा है—"वृद्ध भारत की वृद्ध जातियों की जगह धीरे-धीरे नवीन भारत की नवीन जातियों का शुभागमन हो, इसके लिए प्रकृति ने वायुमंडल तैयार कर दिया है। यदि प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ उनके आने में सहायक न होंगी तो जातीय समर में उन्हें अवश्य ही नीचा देखना पड़ेगा। क्रमशः सही अंत्यज और शूद्र यज्ञकुंड से निकले हुए आदिम क्षत्रिय की तरह अपनी चिरकाल की प्रसुप्त प्रतिभा की नवीन स्फूर्ति से देश में अलौकिक जीवन का संचार करेंगे। इन्हीं की अज्ञेय शक्ति भविष्य में भारत को स्वतंत्र करेगी।"

सुधारपंथियों को फटकारते हुए महाकवि एक अनमोल वचन हमें दे गए हैं :"यह भारतीय है, यह अभारतीय, यह संस्कृत यह असंस्कृत! नस-नस में शरारत भरी, हज़ार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाम में दम आ गया और अभी संस्कृति लिए फिरते हैं।"[2]

"दुनिया भर के पौराणिक खुराफात लोग मानते हैं, पर जीवन के सत्य को नहीं मानेंगे।"[3] मौजूदा समाज के 'लाभ-शुभ' का जिन्होंने ठेका ले रखा है, ऐसे व्यक्तियों पर अपनी खीझ झाड़ते हुए उन्होंने कहा--"जो लोग भारतीयता और शालीनता आदि कुछ चुने हुए शब्दों के ज़िम्मेवार हो रहे हैं, चरित्र की रक्षा कराने का ईश्वर के यहाँ से अधिकार-सा लेकर अवतीर्ण हुए हैं।" अपने देश की स्त्रियों का पिछड़ापन निराला को उतना ही खलता रहा जितना राजा राममोहन राय, महर्षि दयानंद और स्वामी विवेकानंद को खलता होगा। हमारी राष्ट्रीय चेतना के इस प्रखर उन्नायक ने अब से 33 वर्ष पहले बतलाया :

"जो संपन्न हैं, जिन्हें दोनों वक़्त मजे में भोजन मिल जाता है, वे भी बालिकाओं की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते; बल्कि उच्च स्वर से यही घोषणा करते हैं कि लड़कियों को शिक्षा देना पाप है, वे बिगड़ जाती हैं। पीछे पिता-माता को समाज में रहने लायक़ भी नहीं रखतीं। इनके दिमाग़ में 'सारंगा-सदावृज' की कहानी पढ़ लेने तक ही विद्या परिमित है। ये लोग रूढ़ियों के ऐसे ग़ुलाम हैं कि जीते जी उन्हें छोड़ नहीं सकते, और इससे समाज का पहिया ज़रा भी आगे नहीं बढ़ने पाता।"[4]

"अब घर के कोने में समाज तथा धर्म की साधना नहीं हो सकती। ज़माने ने रुख बदल दिया है। हमारे देश की लड़कियों पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व आ पड़े हैं। उन्हें वायु की तरह मुक्त रखने में ही हमारा कल्याण है। तभी वे जाति, धर्म

---

1. 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति', (*चाबुक* में संकलित)
2. 'काव्य-साहित्य' (*चाबुक* में संकलित निबंध)
3. 'सामाजिक पराधीनता' (*प्रबंध-प्रतिमा*)
4. 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ' (*प्रबंध-प्रतिमा*)

तथा समाज के लिए कुछ कर सकेंगी। उन्हें दबाव में रख कर इस देश के लोग अपने जिस कल्याण की चिन्तना में पड़े हैं, वह कल्याण कदापि नहीं, प्रत्युत निरी मूर्खता है।''

''हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग जाएँगे, कार्य की सफलता में हमें तभी प्राप्त होगी। अभी जो काम स्त्रियाँ करती हैं, वह काम नहीं; यह संस्कारों का प्रवर्तन है। उससे मेधा और नष्ट होती है। मनुष्य-जाति मशीन के रूप में बदल जाती है।''

''सच्चा धर्म इस समय स्त्रियों के सब प्रकार के बंधन ढीले कर देना, उन्हें शिक्षा की ज्योति से निर्मल कर देना ही है। इससे देश की तमाम कामनाओं की सिद्धि होगी और स्वतंत्र-सुखी जीवन बाह्य सु-तंत्रता से तृप्त होकर आत्मिक मुक्ति के संधान में लगेगा। रूढ़ियाँ कभी धर्म नहीं होतीं, वे एक-एक समय की बनी हुई सामाजिक शृंखलाएँ हैं। पहले की वे शृंखलाएँ जिनसे समाज में सुथरापन था—मर्यादा थी, अब ज़ंजीरें हो गई हैं। अब उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं। अब उन्हें तोड़ कर फेंक देना चाहिए।''

''जब तक स्त्रियों में नवीन जीवन की स्फूर्ति भर नहीं जाएगी, तब तक ग़ुलामी का नाश नहीं हो सकता...''

''स्त्रियों का शव लेकर विजयी होना असंभव है। वे ही स्त्रियाँ, जो बाह्य विभूति की मूर्तियाँ हैं, लक्ष्मी तथा सरस्वती की कृतियाँ हैं, अपने पुरुषों में शक्ति-संकर कर सकती हैं। स्त्रियों के रूप में जो विजय घर में मौजूद है, वही बाहर भी मिलती है। घर का अभागा कभी बाहर प्रसिद्धि नहीं पाता। अतएव हमें स्त्रियों की बाह्य स्वतंत्रता, शिक्षा-दीक्षा आदि पर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है, अन्यथा अब के पुरुषों की तरह उनके बच्चे भी गुलामी की अँधेरी रात में उड़ने वाले चमगीदड़ होंगे, स्वाधीनता के प्रकाश में दहाड़ने वाले शेर नहीं हो सकते और हमारी मातृभाषा का मुख उज्ज्वल नहीं हो सकता।''

''घर की देवियाँ आँसू बहाएँ और आप बहादुर हो जायँ, ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ, और न हो सकता है...''

नक़ली सुधारकों पर निराला का गुस्सा कभी कम नहीं हआ। बात-बात में 'सच्चरित्रता' की दुहाई देने वालों के लिए उनका कटाक्ष देखिए—''महाराज दशरथ या वाज़िदअली शाह की तरह यदि अनेक स्त्रियों का एक पति होना शास्त्रसंगत है, तो द्रौपदी की तरह एक स्त्री 25 पतियों से भी रति कर सकती है और उसका प्यार मर नहीं सकता। हाँ, किसी एक के प्रति अधिक भले ही हो। हमारे पुरुषों को यह सब बहुत बुरा लगेगा, क्योंकि वे चाहते हैं, हम सबकी स्त्रियों की

तरफ़ देखें, हँसी-मज़ाक़ करें, पर हमारी स्त्री दिन-रात हमारे ही ध्यान में डूबी रहे!"[1]

इस प्रसंग में इतने सारे उद्धरण किसलिए?

इसलिए कि निराला जी पर हिन्दी-क्षेत्र के अधकचरे सुधारपंथी और अवसरवादी सांस्कृतिक नेता आज भी उसी तरह नाक-भौंह सिकोड़ते हैं; राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं के समाधानार्थ इन महानुभावों की गतिविधि में किसी प्रकार का उद्वेग लक्षित होता तो हमें तसल्ली होती। विवेकानंद की शताब्दी के अवसर पर लगातार कई दिनों तक इन्होंने 'श्रीरामकृष्ण लीलामृत' का पारायण किया और 'भगिनी निवेदिता' वाली बँगला-फ़िल्म दो बार देख आए! अब और क्या चाहिए?

हाँ, इन महानुभावों के लिए मैंने ये कोटेशन नहीं बटोरे हैं। इन उद्धरणों की आवश्यकता थी नई पीढ़ी के उन सजग पाठकों के लिए जो कि महामनीषी निराला के व्यक्तित्व की भास्वर महिमा को दूर ही से नमस्कार करके परितुष्ट नहीं होंगे। उन्हें इस प्रकार के पचासों कोटेशन चाहिए। इन पंक्तियों को लिखते हुए, वस्तुतः, मैं बार-बार उस युग-पुरुष को अपने आगे स-शरीर उपस्थित पा रहा हूँ... मुझसे लिखा नहीं जाएगा अब इस वक़्त!...

—आप मुस्करा रहे हैं निराला जी?

—नहीं, आपके निबंधों की वे पंक्तियाँ चमक रही हैं, जिनमें मेरी पेन्सिल के लाल निशान लगे थे!

—मैं इन्हें भूल जाऊँगा?

—नहीं, शायद ही भूल पाऊँगा!

—निराला जी, आपका निबंधकार शायद ही कभी भुलाया जा सके!

—... 'निबंधकार निराला'

—कितनी अच्छी जिल्द है!

—किसकी है?

—रामविलास की?

—शाबाश डॉक्टर! सिवा तुम्हारे, दूसरा कौन यह काम करता?

—'निबंधकार निराला'...निबंधकार...निबन्..

—अरे, अरे! यह क्या?

—कहाँ चली गई किताब?

—आप फिर मुस्करा रहे हैं? नहीं...नहीं निराला जी!

—नहीं निराला जी, अब नहीं मुस्कराइए!

---

1. 'सामाजिक पराधीनता' *(प्रबंध-प्रतिमा)*

—सुर्ती फाँकोगे नागार्जुन?
—मगर, चूना तो नहीं है...
—बग़ैर चूने की सुर्ती फाँकोगे?
—यहाँ तो सब चलता है भाई!

—अच्छा, तैयार कीजिए। इधर लाइए, मैं...
—नहीं?
—अच्छा, वह किताब क्या हुई?
—कौन-सी?
—'निबंधकार निराला'...
—पागल हुए हो? ऐसी तो कोई किताब मेरे देखने में नहीं आई!
—किसकी है? डॉक्टर रामविलास की?
—हुँ...सुर्ती दीजिए न!
—इधर बढ़ाइए...

—मगर उस किताब का क्या हुआ?
—'निबंधकार निराला'—An authentic work of Dr. Ramvilas Sharma, published from Oxford University Press, London. Printing is very fine, you see, Mr. Nagarjun!
—वाह, सारी सुर्ती आपने खुद ही फाँक ली!
—मुस्करा किस तरह रहे हैं!
—अजी, रहने दीजिए! मैं नहीं फॉकता आपकी सुर्ती...
—बंद कीजिए अंग्रेज़ी, महाराज!
—No, No...Doctor Ravindra Nath Tagore and myself were at Oxford in same period...Mr. Nehru came to me again and again...
—अच्छा, निराला जी! आपको मालूम है, गत वर्ष चीन की लाल हकूमत ने हमारी सीमाओं पर हमला कर दिया था?
—ओह, आप तो फिर मुस्कराने लगे!
—यह भी भला मुस्कराने वाली बात है?
—स्तालिन का घोड़ा नेफा और लद्दाख से उतर कर नीचे मैदान तक बढ़ आया होता। वह तो मैंने उसकी लगाम थाम ली...
—कोई उसे थामने वाला न था, सच!
—पहले मैंने थामी लाल घोड़े की लगाम... Mr. Nehru was next to me...अरे, हँसते हो?

—आपकी रूह को तांत्रिकों ने क़ैद कर रखा है? नागर जी से आपके गाँव में किसी ने बतलाया था...

—'हिन्दी टाइम्स' में उनका लेख छपा था...

—नागर? अमृतलाल नागर तो ख़ुद ही भारी तांत्रिक हैं। देखना, कहीं वह तुम्हारी रूह को क़ैद न कर ले!

—हाँ, भंग-भवानी के उस भूतनाथ से बच के रहना?

—अजी वाह, अच्छी झाँकी मिली...

—नहीं, नहीं, अभी अंतर्धान न होइए महाराज!

—मगर आपको रोके भी तो कौन!

—अच्छा महाराज, नमो नारायण...

राहुल सांकृत्यायन

संज्ञाशून्य महापंडित सोवियत भूमि पहुँच चुके हैं। फ़िलहाल उन्हें मास्को रखा गया है और चिकित्सा नए सिरे से शुरू हुई होगी...

श्रीमती कमला सांकृत्यायन (एम. ए., पी-एच. डी., पूर्वनाम: कमलमाया पेरियार, उम्र 30-35 के लगभग) अपने पति के साथ हैं। कहते हैं, कमलाजी को भी अस्पताल में ले लिया गया है। इनको क्या रोग था, मालूम नहीं।

हमें आशा है, दोनों ही स्वस्थ होकर लौट आएँगे। कमलाजी अपने बच्चों (जया और जेता) को दार्जिलिंग छोड़ गई हैं। बच्चे कन्वेन्ट में पढ़ रहे हैं। बच्चों की मौसी उनकी देख-रेख कर रही हैं। वहाँ कचहरी रोड के किनारे राहुल परिवार का अपना मकान है। दार्जिलिंग के क़रीब ही कलिंपोंग में कमलाजी का मायका है। उधर कमलाजी की अपनी बिरादरी के लोगों की काफ़ी तादाद है। राहुलजी के संपर्क में आने के बाद कमलमाया पेरियार के चार छः लेख हिन्दी में तो हमने देखे थे। पता नहीं, अपनी मातृ-भाषा (नेपाली) में भी उन्होंने शायद कुछ लिखा हो।

1958 तक राहुलजी का मसूरी वाला मकान था। उसे बेचकर कुछ महीने वे लोग देहरादून रहे। 1959 में दार्जिलिंग में फिर मकान ख़रीद लिया, शायद तेईस हज़ार रुपए लगे थे। इस हेरफेर में राहुलजी पर काफ़ी क़र्ज़ चढ़ गया। मानसिक उद्विग्नता कई गुनी अधिक बढ़ गई।

1957-58 में एक ऐसी बात हुई जिसने राहुलजी की इन परेशानियों को और भी ऊपर उछाल दिया, यों समझिए कि ख़तरनाक छोर पर पहुँचा दिया।

नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) को विश्वकोश संपादित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने लाखों का अनुदान दिया था। प्रधान संपादक के तौर पर उसमें राहुलजी को लेने की चर्चा ज़ोर पकड़ रही थी और यह लगभग तय लगता था कि 1500 मासिक वेतन वाला यह काम राहुलजी को मिलेगा ही।

नागरी प्रचारिणी सभा की नकेल उन दिनों हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, राजबली पांडेय आदि के हाथों में थी। यही लोग उन दिनों विश्वकोश वाली उस योजना के सर्वेसर्वा थे। इन 'विधाता व्यक्तियों' ने अंदर-अंदर ऐसा कुछ किया कि राहुलजी को प्रधान संपादक का पद नहीं मिला। मिला धीरेन्द्र वर्मा को। हमने इस सिलसिले में एक 'साहित्य नेता' से पूछा था। वह बोले थे : "राहुल अगर कम्युनिस्ट न होते, राहुल अगर मौलाना आज़ाद और पंडित पंत की निगाहों में अच्छे होते, राहुल की नियुक्ति के लिए अगर हज़ारीप्रसादजी ने ज़ोर डाला होता; डांगे और अजय घोष ने अगर राहुल के लिए पंडित नेहरू से सिफ़ारिश की होती..."

तो अगर-मगर के इस भँवर में राहुलजी की आशाओं का वह नगर डूब गया!

1953 में उनके हृदय को एक धक्का यों भी लगा था। राहुलजी साठ साल के हो रहे थे। डेढ़-दो वर्ष पहले से इधर-उधर हवा बँधी थी कि साहित्यकार संसद (महादेवी वर्मा द्वारा स्थापित और संचालित संस्था, इलाहाबाद) उनका अभिनंदन करेगी। मगर हवा हवा ही रह गई, हुआ-हवाया कुछ नहीं...साहित्यकार संसद ने बहुतों को अभिनंदित किया था। वृंदावनलाल वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, दिनकर आदि नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

राहुलजी आरती से यों वंचित रहे कि उन्होंने एक और शादी कर ली थी। महादेवी जैसी विप्लवी और गंभीर महिला की निगाहों में राहुल का पत्नी-परित्याग वाला वह अपराध काफ़ी था। या फिर वहाँ भी कम्युनिज़्म और नास्तिकता आड़े आ गए थे, कौन जाने!

उससे भी 5 वर्ष पहले साहित्य सम्मेलन वाले अध्यक्षीय भाषण के कुछ अंशों पर एतराज़ उठाकर कम्युनिस्ट पार्टी ने राहुलजी से कैफ़ीयत तलब की थी। तब से लेकर वर्षों तक उन्हें पार्टी की सदस्यता से वंचित रहना पड़ा। पार्टी के प्रति राहुलजी के हृदय में अपार आस्था रही है, इतनी कि तीन-चार वर्ष बाद उन्हें फिर से सदस्यता हासिल हो गई। मगर वे चार-पाँच वर्ष राहुलजी के जीवन में संकटकाल कहे जाएँगे।

इस सब पर हमारे कुछ मित्र कहेंगे, "राहुलजी का हृदय बड़ा ही विशाल था, ऐसी-ऐसी 'तुच्छ' घटनाओं से वह कभी नहीं घबराए। वह नीलकंठ हैं। वह सदैव मुसकराते रहते हैं..."

जी, हाँ, राहुल नीलकंठ थे। राहुल सदैव मुसकराते रहते थे...

लेकिन अब राहुल के गले की सूरत पीली पड़ गई है...

अब वह मुसकराते कम हैं, रोते ज़्यादा हैं। देखा है आपने राहुल को? हाल में? पिछले दिनों?

एक बार देखने गए थे? देखकर कष्ट हुआ था?

दोबारा नहीं गए देखने?

ठीक किया आपने, विराट चेतना की वह मूर्छा देखी नहीं जाती थी। वह बेबसी! घुटी हुई रुलाइयों वाले उस चेहरे की वे सलवटे! सूखे आँसुओं वाली आँखों का वह भिंचाव!

आर्थिक परेशानियों ने उन्हें लंका जाकर नौकरी करने के लिए मजबूर कर दिया। अपने देश की सरकारी व ग़ैरसरकारी संस्थाओं से माकूल काम पाने की कोई उम्मीद जब नहीं रही तो वह और करते भी क्या?

लंका (केलानिया) में गुरु भाइयों ने बड़े आदर से उन्हें दो वर्ष तक रखा। विद्यालंकार विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन का विभागीय प्रधान पद राहुलजी को वहाँ मिला था। वेतन पंदरह सौ से ज़्यादा ही था, शायद सत्रह सौ (या इक्कीस सौ)। अध्यापन के अलावा लिखाई-पढ़ाई में भिड़े रहते थे। अपनी तंदुरुस्ती की कोई परवाह नहीं थी। बेहोशी और विस्मृति का पहला हमला वहीं हुआ था। इधर हिन्दी पत्रों में दो-चार लेख निकले। इस पर एकाध सहायता वाली अपील भी निकली थी। पता चलने पर राहुलजी ने सहायता वाली उस अपील के ख़िलाफ़ अपना मंतव्य पत्रों में छपवा दिया कि—नहीं, उनकी आर्थिक स्थिति ख़राब नहीं है, स्वास्थ्य भी उस हद तक नहीं बिगड़ा है। पंडित रामप्रसाद त्रिपाठी (सहायक मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ने राहुलजी का यह पत्र समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा दिया था।

मेरी यह पक्की धारणा है कि पिछले महीनों में राहुलजी की आर्थिक मजबूरियों के बहुविध उल्लेख करते-कगते हुए जो भी कुछ हिन्दी संसार के समक्ष छपित सामग्री (पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम मे) आती रही है, वह सारी-की-सारी हमारे महान राष्ट्र के स्वाभिमान को खरोंचने वाली थी। राहुलजी अगर फिर से होश में आ जाएँ और ये तमाम कटिंग्स उनके आगे कोई रख दे तो निश्चय ही वह दोबारा अपनी चेतना खो बैठेंगे।

हमें खेद के साथ पाठकों को इस तथ्य से अवगत कराना पड़ रहा है कि श्रीमती कमला सांकृत्यायन (एम. ए., पी-एच. डी.) को अपने विश्वविख्यात पतिदेव के स्वाभिमान की उतनी परवाह नहीं थी जितनी कि 'चिकित्सार्थ सहायता निधि' हासिल करते रहने की। अवसर आने पर मैं इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए काफ़ी सबूत पेश करने की स्थिति में हूँ।

इस सिलसिले में मुझे एक बात याद आ रही है। पिछले अप्रैल में यहीं (दिल्ली में) एक सर्वोदयी बुज़ुर्ग मित्र ने मुझसे कहा, "राहुलजी के नाम पर पत्रों में यह जो कुछ आ रहा है, उसकी ध्वनि मुझे अच्छी नहीं प्रतीत होती। राहुल क्या सचमुच इतने अनाथ हैं? मैंने अपनी पुत्री से कह दिया कि मुझे यदि ऐसी दयनीय दुर्दशा में कभी देखा तो सहायता की अपीलें अख़बार में कदापि न छपाना, बल्कि डाक्टर से बढ़िया इंजेक्शन दिला देना ताकि हमेशा के लिए सो जाऊँ।"

सही आँकड़े तो मुझे नहीं मालूम, मगर मेरा मन मानता है कि पिछले कुछ वर्षों में राहुलजी की वार्षिक आय दस हज़ार से ज़्यादा रही है। कभी-कभी तो वह पंदरह हज़ार तक पहुँच जाती थी। वह हमारे उन चंद साहित्यकारों में रहे हैं, जो अपना भाग्यविधाता आप ही रहे। 1950 से पहले राहुलजी ने न जाने कितने हज़ार रुपए

चुपचाप ज़रूरतमंद छात्रों को दिए होंगे, विभिन्न राजनीतिक दलों के साथियों की भी उन्होंने कितनी मदद की होगी।

दो-ढाई वर्ष राहुलजी लंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन विभाग के अध्यक्ष (हेड ऑफ़ दी डिपार्टमेण्ट) रहे। दर्जनों सरकारी, अर्ध सरकारी ग्रंथों पर संपादक के तौर पर उनका नाम छपता रहा है।

बीमारी के इन दो महीनों में सरकार और जनता से प्राप्त रकम बीस हज़ार से ऊपर ही रही। (हाँ, इतना ज़रूर है कि अख़बारों और विशिष्ट व्यक्तियों ने ध्यान न दिया होता तो कमलाजी को शायद ''मकान बेचना पड़ता'' जैसा कि किसी अख़बार में हमने देखा था...) लगता है, अभी लंबे अर्से तक बीमार साहित्यकार 'अनाथ' के तौर पर हमारे इस महान् राष्ट्र में शासक वर्ग और जनता की 'दया दृष्टि' के सहारे काया की अपनी लढ़िया आगे ठेलते जाएँगे।

बातचीत करने की शक्ति अब दो प्रतिशत रह गई है। कभी-कभी यह सामर्थ्य पाँच प्रतिशत तक बढ़ जाती है। जान-पहचान की शक्ति भी बहुत घट गई है। जो भी सामने आता है, बाँहें फैलाकर उसे पास बैठा लेते हैं।

फिर पूछते हैं, ''चा? चा? (चाय)''

फिर पूछते हैं, ''काना? (खाना)''

अगर आपने सिर हिलाकर 'न' कर दिया तो राहुलजी रो पड़ेंगे। खुलकर रो भी तो नहीं पाते हैं। आँखें बुरी तरह भिंच जाती हैं, होंठ तनकर सिकुड़ जाते हैं। भौंहें, कपार, गाल, नाक—समूचा चेहरा बारीक रंगों की भद्दी सिकुड़न से भयावना हो उठता है...फिर उस विकराल बेबसी का सामना करते या तो आप बग़लें झाँकने लगेंगे, या फिर आपकी निगाहें पथरा जाएँगी। कलेजे में ऐसी हूक उठेगी कि दिल डूबता-सा लगेगा। तो फिर आप राहुलजी से झूठ बोलेंगे :

''हम चाय पी के आए हैं...''

इससे उन्हें बच्चों की तरह तसल्ली होगी।

फिर वह आपके गालों पर हाथ फेरेंगे, चुमकारेंगे...

''चु चु चु'' कहते वक्त होंठों को जिस तरह सिकुड़ना होता है वही मुद्रा होगी उनकी...

''बच्चे?''

''हाँ, बच्चे!''

''दो हैं, कितने हैं? दो ही हैं न?''

आप क्या जवाब देंगे, इसकी प्रतीक्षा किए बिना ही राहुलजी अपने आप बोलते चले जाएँगे—उच्चारण अटपटे, व्याकरण की बंदिश नहीं, संज्ञा और क्रिया पद अधूरे...

"तेज...बड़े। नाम क्या हैं?"

यानी बच्चे पढ़ने में तेज़ हैं, उनका नाम बताओ, मैं तो भूल गया हूँ। नाम...आप कहेंगे, "जया और जेता।"

इससे राहुलजी ख़ुश होकर मुसकराने लगेंगे।

अक्सर उन्हें अपना बड़ा लड़का याद आता है।

इगोर राहुलोविच सांकृत्यायन।

स्वस्थ सुन्दर चौबीस वर्षीय युवक।

लेनिनग्राद (रूस) में अपनी माँ के साथ रहता है। वहीं किसी पुस्तकालय में लाइब्रेरियन है इगोर।

अभी-अभी, उस रोज़ राहुलजी ने कहा था, "बड़े भैया (इगोर) से मिलकर वापस आ जाएँगे..."

"हाँ, आ जाइएगा वापस!"

"घर (दार्जिलिंग) आ जाएँगे।"

"साथ कौन जा रहा है? तुम चल रहे हो?"

"कमलाजी।"

"तुम नहीं चल रहे हो?"

"नहीं, मैं नहीं। कमला आपके साथ होंगी।"

"तुम भी चलना!"

"अच्छा, चलूँगा..."

बच्चों की तरह झूठमूठ दिलासा देकर राहुलजी को उस वक़्त कोई भी ख़ुश कर लेता!

दिल्ली की दमघोटू गरमी में उन्हें 40 दिन रहना पड़ा। मास्को जाने से पहले वाले दो रोज़ बेहद तकलीफ़देह रहे।

हम इस दरमियान कई घंटे (तीन अलग तारीख़ों में) राहुलजी के साथ रहे। जुलाई में जब वह दिल्ली लाए जा रहे थे तो सात रोज़ कलकत्ते रहे। मैं भी उन दिनों वहीं था। सात-आठ घंटे तब भी साथ रहना हुआ था। डॉक्टर महादेव साहा (पी-एच. डी.) भी मौजूद थे वहाँ। वह तो ख़ैर पिछले आठ-दस महीनों में अपना काफ़ी वक़्त राहुलजी की सेवासुश्रूषा में लगा चुके हैं। मित्रों की राय थी कि साहाजी ही राहुलजी को मास्को पहुँचा आएँ। मगर उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। हमारा अब भी यही ख़याल है कि कमलाजी का मास्को जाना ठीक नहीं रहा।

सरिता के सभी पाठकों को शायद यह बात मालूम ही होगी कि आज से पच्चीस वर्ष पहले लेनिनग्राद की विदुषी महिला कुमारी लोला से राहुलजी का स्नेह संपर्क

स्थापित हुआ था। दो-ढाई महीने के लिए रूस की ओरियंटल इंस्टीट्यूट की तरफ़ से राहुलजी को लेनिनग्राद बुलाया गया था। भारतीय तर्कशास्त्र के विख्यात आचार्य चेरवास्की इस 'इंदुश्की' (भारतीय) पर बेहद ख़ुश थे कि इसने तिब्बत के पुराने मठों से बौद्ध दर्शन की गुमशुदा पांडुलिपियों का उद्धार किया था। प्रमाणवार्तिक आदि ग्रंथ तिब्बती-चीनी अनुवादों के तौर पर तो मिलते थे, अपने मूल रूप में ग़ायब थे अब तक! और हमारे राहुल जी उन ग्रंथों को तिब्बती खोहों से निकाल लाए थे। उन्हीं उपलब्धियों को छान-बीन के लिए चेरवास्की आतुर थे। उन्हीं की प्रेरणा से राहुलजी को लेनिनग्राद जाकर रहने का आमंत्रण मिला था। और साल-भर बाद पुत्र पैदा होने की ख़ुशख़बरी भी उन्हीं बूढ़े आचार्य ने तार द्वारा भेजी थी।

1938 के आख़िरी दिनों से लेकर 1944 के मध्य तक राहुल का जीवन बड़ा ही सक्रिय रहा। साहित्य निर्माण की दृष्टि से भी और जन-आंदोलन में वामपंथी नेतृत्व की दृष्टि से भी। पचासों अलभ्य ग्रंथों की खोज की थी। उन्हें सकुशल पटना तक ले आए थे राहुलजी। यह अनमोल सामग्री दुनिया-भर में मनीषियों के लिए दुर्लभ थी अब तक। इस अनुसंधान ने राहुल को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करा दी। इनमें कई पोथियों का उन्होंने स्वयं संपादन किया, बीच-बीच में खंडित अंशों को तिब्बती अनुवादों के सहारे मूल (संस्कृत) रूप दिया...यह सब अपने आप में अनूठा काम था।

वोल्गा से गंगा, भागो नहीं, दुनिया को बदलो, दर्शन-दिग्दर्शन जैसी बीसों पुस्तकें इन्हीं वर्षों में तैयार हुई थीं। प्रादेशिक कांग्रेसी सरकार (सन् 1939) के ख़िलाफ़ छपरा के विक्षुब्ध किसानों के उग्र विराट आंदोलन का नेतृत्व आपने ही किया था। लाठियाँ खाई थीं, सिर फुड़वाया था, जेल गए थे, सत्याग्रही क़ैदियों को समान सुविधाएँ दिलवाने के लिए लंबा अनशन किया था। और द्वितीय विश्व युद्ध ने ज़ोर पकड़ा तो समूचे देश में वामपंथी नेताओं की धरपकड़ हुई थी। राहुल भी देवली कैम्प में पहुँचा दिए गए थे। पहले भी (1922-29 के दरमियान) सक्रिय कांग्रेसी के नाते दो-ढाई वर्ष जेल की सज़ा भुगत चुके थे।

क्या राजनीतिक आंदोलनों में बार-बार सक्रिय भूमिका ग्रहण करने का ही यह नतीजा था कि ग्रंथ संपादन, साहित्य निर्माण, अनुवाद वगैरह अपने सभी कामों में राहुल जल्दबाज़ी कर बैठते थे? किसी भी कृति को 'फिनिशिंग टच' देने वाला धीरज, क्यों इस महापंडित की लाडली प्रज्ञा का वफ़ादार साथी नहीं रहा?

मगर कहाँ? राहुलजी राजनीति में अपनी 'सक्रिय भूमिका' कहाँ निभा सके। उन जैसा सरल, निश्छल और मस्तमौला फक्कड़ पालिटिक्स के मैदान में भला कैसे जम पाता। वह वैष्णव रहे, वह आर्य-समाजी रहे, वह कांग्रेसी रहे, वह बौद्ध रहे,

वह कम्युनिस्ट हैं...लेकिन, इनमें से क्या किसी भी जमात के अंदर क्षमताशाली नेतृत्व राहुल कभी हासिल कर पाए? उन्हें नेतृत्व से नफ़रत थी। वह तो संत स्वभाव के व्यक्ति थे, ऐसा कह देना या मान लेना व्यक्तित्व की अंधपूजा के दायरे में आ जाएगा।

'फक्कड़' और 'घुमक्कड़' तथा 'संत' और 'साधक' जैसे शब्द हमारे कानों में गुदगुदी भर देते हैं, फिर होता यही है कि इन विभूतियों के बारे में हम 'सात ख़ून माफ़' वाला रुख़ अपना लेते हैं। यह तो हम भूल ही जाते हैं कि जीवन में क्रांतिकारी सूझ-बूझ और ऊँचे आदर्शों वाली बातचीत अपने अनुरूप आचरण की भी माँग करती है—क्रांतिकारी और ऊँचे आचरण की। ऐसा नहीं कि सूझबूझ और बातों में तो हम सौ प्रतिशत से भी ज़्यादा क्रांतिकारी व आशावादी लगें लेकिन अमल में यही साबित हों कभी नब्बे प्रतिशत और कभी पाँच प्रतिशत भी नहीं और कभी एक प्रतिशत भी नहीं!

व्यक्ति जब अपने अंदर बड़प्पन भर रहा हो, ऊपर उठ रहा हो, लंबी-ऊँची कुदान ले रहा हो तो लोग साधारणतः यही कहते सुनाई देते हैं, "विभूति ढल रही है, शख़्सियत निखर रही है..." उनकी ग़लतियों के बारे में अगर किसी ने कुछ कहा तो उदार प्रशंसक डाँटकर जवाब देते हैं, "जीनियस के सात ख़ून माफ़," और वही 'जीनियस' आगे चलकर किसी गड्ढे में गिरता है और हम तब उसकी उपलब्धियाँ गिना-गिनाकर गालियाँ बकते होते हैं। सौ ग़लतियाँ समाज के नाम! हज़ार ग़लतियाँ सरकार के नाम।

सही सूझबूझ, सही आचरण, सही आत्मआलोचना, समझदारी, साहस और लगन—किसी भी सफल, स्वस्थ व दीर्घजीवी व्यक्ति पर नज़र डालिए, यही विधायक ख़ूबियाँ वहाँ मुस्कराती मिलेंगी।

राजनीति में विधायक भूमिका हासिल करने के लिए तो और भी जागरूकता, और भी आत्मदमन आवश्यक थे। प्रचलित अर्थों में राहुल नेता टाइप हो ही नहीं सकते थे। फिर भी यह तो मान ही लेना चाहिए कि 1932 से लेकर 1944 तक समाजवादी और कम्युनिस्ट और रूढ़िभंजक साहित्य तैयार करने वालों में वह हमारी हिन्दी संसार के सबसे बड़े अगुआ हैं। वामपंथी भावधारा वाले लाखों साधारण युवक राहुलजी को अपना अन्यतम शिक्षक मानते हैं।

1939 में एकाएक हिन्दी संसार को मालूम हुआ कि रूस में राहुलजी की पत्नी है और पुत्र पैदा हुआ। इस ख़बर से हमें कौतूहल मिश्रित ख़ुशी हुई थी, हमने इस घटना को देशों की रिश्तेदारी का प्रतीक माना था। पत्रों-पुस्तकों में लोला और

इगोर के फ़ोटो छपते रहे और हम गौरवपूर्वक उन्हें आपसी चर्चा का टापिक बनाते रहे।

1950 में राहुलजी ने एक और शादी कर ली। अब की श्रीमती सांकृत्यायन बनीं कलिंपोंग की रहने वाली कुमारी कमलमाया पेरियार—उम्र में उनसे लगभग पैंतीस साल छोटी।

डाइबिटीज का हमला 1949 में ही हो चुका था। गिरस्ती के झमेले, आर्थिक तंगी, इंसुलिन के इंजेक्शन और बदपरहेजियाँ...सबने मिलकर राहुल की कुंदन काया को गलाना शुरू कर दिया। दस-बारह वर्षों में उनका स्वास्थ्य बुरी तरह जर्जर हो गया।

1943 में राहुलजी की पहली पत्नी के दर्शन हमें हुए थे। उस स्वस्थ, सुंदर और प्रौढ़ ग्रामीण महिला ने मुझसे कैफ़ीयत तलब की थी, "मेरा क्या क़सूर है, क्यों छोड़ रखा है उन्होंने..." जवाब में एक भी बोल इस मुँह से नहीं फूट रहा था। मैं चुप्पी साधे; निगाहें नीची किए था...छोटी-बड़ी उम्र की अनेक स्त्रियाँ खुले जंगले से बाहर खड़ी थीं, पैने सवालों से मुझे छेद-बेध रही थीं...तैश में आकर एक वृद्धा ने उस महिला की कलाई पकड़ ली, खींचती हुई चीख़ीं, "छोड़ो, छोड़ो, चलो यहाँ से। यह भी किसी को छोड़कर भाग आया होगा। केदार (राहुल) ने भगोड़ों की ज़मात क़ायम कर रखी है..."

मुझे कनैला (ज़िला आज़मगढ़, उत्तर प्रदेश) की उस वृद्धा का वह आक्रोश कभी नहीं भूलता। वह भाभीजी को खींचकर मेरे सामने से हटा ले गई थी।

अपनी एकमात्र पत्नी श्रीमती अपराजिता देवी (तरौनी, ज़िला दरभंगा, बिहार) से मैंने यह बात कही तो वह बोलीं, "ठीक ही तो कहा था बुढ़िया ने! तुम नहीं मुझे छोड़कर भागे थे?"

वह भगोड़ापन बड़ा ही व्यापक है, उतना ही सनातन, उतना ही विविध। लेकिन मनुष्य साधारण पशु नहीं होता, वह तो विकसित पशु है, मिल-जुलकर सोचना-समझना, अपनी सुविधा के लिए क़ायदे-क़ानून बना लेना और उन पर अमल करना उसकी विशेषता होती है, प्रथाएँ पुरानी होकर रूढ़ियों के तौर पर अचल बन जाती हैं तो अगली पीढ़ी अपने सुभीते के लिए नई प्रथा क़ायम कर लेती है। भगोड़ा आगे बढ़कर और फक्कड़ होता है। रूढ़िभंजन वाली परंपरा उसको क्रांतिकारियों की अनुशासित क़तार में शामिल करा देती है...

मुझे संदेह है कि राहुलजी का मानसिक स्वास्थ्य अपनी पूर्व स्थिति में वापस आएगा। हाँ, साधारण तौर पर वह स्वस्थ्य होकर रूस से लौटेंगे, इगोर राहुलोविच

को सामने पाकर बीमार पिता को कितनी ख़ुशी होगी।

अकेले राहुल ने हिन्दी संसार को उतना अधिक दिया है जितना दस साहित्यकार भी नहीं दे सके। सहज श्रद्धालु हमारी भारतीय जनता अपने 'राहुल बाबा' के नाम पर हमेशा माथा झुकाती रहेगी...

[*सरिता*, नं. 62]

फणीश्वरनाथ रेणु

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारी कथा-कृतियों में भी ढेर सारे परिवर्तन आने लगे। चिन्तन में तो ताज़गी के नए-नए आभास महसूस हुए ही, शब्द-शिल्प की छवियाँ भी तेज़ी से उभरने लगीं, उनमें ताज़ी और अनूठापन अधिकाधिक उजागर होने लगा। हिन्दी के माध्यम से जीवन-बोध को समझने-परखने वाला विशाल पाठक-समाज इस ताजगी और अनूठेपन में विभोर हो उठा।

कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु घनी बुनावट और विविध छवियों वाली बहुरंगी छवियाँ उरेहने के लिहाज से सर्वथा अपूर्व शब्द-शिल्पी थे। रेणु के यहाँ न तो कथ्य-सामग्री का टोटा था और न शैलियों के नमूनों का अकाल। सामाजिक घनिष्ठता रेणु को कभी गुफानिबद्ध नहीं होने देती थी। वह जहाँ कहीं भी रहे, लोग उन्हें घेरे रहते थे। फारबिसगंज, पटना, इलाहाबाद, कलकत्ता, मैंने रेणु को जहाँ कहीं देखा और जब कभी, निर्जन एकांत में शायद ही देखा होगा। रेणु का सबसे बड़ा अड्डा पटना का कॉफ़ी हाउस रहा है। वहाँ एक कार्नर रेणु के लिए जाने कितने वर्षों से सुनिश्चित, सुनिर्दिष्ट रहा है। तरुणों और युवकों की नियमित जुटान वैसी मैंने और किसी कथाकार के परिमंडल में शायद ही कभी देखी हो।

मैला आँचल '54 में प्रकाशित हुआ और *अगिनखोर* '74 में बाहर आया था। बीस वर्षों का यह कालखंड समय के लिहाज से सुदीर्घ अवधि वाला कालखंड भले न रहा हो, परंतु हिन्दी साहित्य में, उत्तरोत्तर विकसित कथा-शिल्प के लिए तो यह संक्षित कालखंड ही विशिष्ट माना जाएगा। प्रकाशित होने पर दो वर्षों के अंदर ही *मैला आँचल* की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। तीन-चार वर्ष बाद *परती परिकथा* का प्रकाशन हुआ तो उस उपन्यास को भी भारी सुयश मिला। सन् '59 में *ठुमरी* प्रकाशित हुई। इस संकलन की 'तीसरी क़सम उर्फ़ मारे गए गुलफ़ाम' शीर्षक कहानी तो ऐसी सुहागिनी साबित हुई कि फ़िल्म जगत के प्रयोगशील डाइरेक्टर श्री बासु भट्टाचार्य अपने को नहीं रोक सके और लोकप्रिय गीतकार शैलेन्द्र ने तो अपना तन-मन-धन सब कुछ इस पर अर्पित कर दिया।

रेणु की, कुल मिलाकर, नौ पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। एक विशिष्ट उपन्यास प्रतीक्षित था—*सफ़ेद हाथी*। यह लगभग तैयार था। परंतु गाँव में ही पांडुलिपि चोरी चली गई। गाँव (औराही हिंगना) में रेणु की सुकीर्ति से जलने वाले उनके कुछ एक चुप्पा क़िस्म के कपट-बंधु अवश्य थे। निश्चय ही कथाकृति वाली ताज़ा पाण्डुलिपियों का तस्कर रसिक गोत्र का प्राणी रहा होगा। उसने कितना बड़ा जुल्म किया हिन्दी जगत् के प्रति।

मैला आँचल, परती परिकथा, जुलूस, कितने चौराहे, दीर्घतपा, कलंकमुक्ति, ठुमरी, आदिम रात्रि की महक, अगिनखोर—ये पुस्तकें संख्या में अधिक नहीं हैं, कुल-जमा 9 ही हैं। लेकिन उपन्यासों में *मैला आँचल* और कहानियों में 'तीसरी क़सम' अत्यधिक मशहूर हैं। *मैला आँचल* के रूपांतर विश्व की कई भाषाओं में हुए। *ठुमरी* (कथा-संग्रह) का अनुवाद अभी-अभी बाङ्ला में हुआ है। फ़िल्म वालों ने रेणु की कई कहानियाँ अनुबंधित की थीं, पता नहीं, उन अनुबंधों का अब क्या होगा। (नई पीढ़ी के जागरूक साहित्यकार और चौकस पत्रकार फ़िल्म जगत् के पहरुए, प्रशासकीय सूचना-प्रसार विभाग वाले उच्च अधिकारी ये सारे-के-सारे ध्यान रखें कि रेणु की मूलकथाओं की कहीं छीछालेदरी न हो)।

फणीश्वरनाथ रेणु की साहित्य-सर्जना का आरंभ कविता से ही हुआ था। पूर्णियाँ नगर से निकलने वाले उस युग के (40-50 के) साप्ताहिकों की फ़ाइलें यदि कहीं मिल जाएँ तो रेणु की तुकबंदियों और मुक्त छंदों के अनेक नमूने हासिल होंगे। उनकी कापियों अंदर यत्र-तत्र काव्यात्मक पंक्तियाँ अवश्य ही मिलेंगी। *नन्दन* या *पराग* के किसी अंक में, वर्षो पहले रेणु की एक कविता—सुथरी और छंदोबद्ध रचना—मेरे देखने में आई थी। अपने साहित्य-गुरु प्रख्यात कथाकार, स्वर्गीय सतीनाथ भादुड़ी महानुभाव का संस्मरण लिखते हुए रेणु ने एक मनोरंजक प्रसंग की चर्चा की है। गुरु और शिष्य दोनों ही भागलपुर सेण्ट्रल जेल में बंदी थे। 42-43 वाले राष्ट्रीय आंदोलन का ज़माना था वह। अँग्रेज़ सरकार की कृपा से कांग्रेसी, सोशलिस्ट, फारवर्ड ब्लाक वाले, यानी कई पार्टियों के राजनीतिक नेता एवं कार्यकर्ता अंदर बंद थे, थोड़ी-बहुत सुविधा तो प्राप्त थी ही, व्यायाम, खेल-कूद, मनोरंजन के साथ-साथ कई प्रकार की गोष्ठियाँ और क्लास भी चला करती थीं। एक बार काव्य-पाठ का प्रोग्राम था। रेणु ने अपनी कविता सुनाई—'आग़ा ख़ाँ के राजमहल में।' तरुणाई के उस प्रथम प्रेम का आवेग ऐसा प्रबल था कि गाँधीजी उन क्षणों की याद करके कह रहे थे—'प्रथम चुंबन का वह आस्वाद...।' श्रोताओं में बूढ़े गाँधीवादी भी कुछ थे। वे चीख़ पड़े...'अश्लील, अश्लील, अश्लील...' बीच में ही रेणु को बैठ जाना पड़ा। सेल वाली अपनी गुफा में वापस आ गए। मन बहुत उदास था। ज़रा देर बाद ही भादुड़ी जी ने सेल के अंदर झाँका। मुस्कराकर बोले—'तुम लोगों का कवि-सम्मेलन तो ख़ूब जमा आज। मुझे अभी-अभी मालूम हुआ। तुमने कौन-सी कविता सुनाई? मैं भी सुनूँगा...'

कविता लंबी थी। भादुड़ी जी बोले—'बाप रे! इतनी लंबी कविता और सो भी मुक्तछंद में।' पूरी रचना सुनकर उन्होंने कहा था, 'बुज़ुर्गों का—गाँधीवादियों का क्या कहना था? क्या उन बुज़ुर्गों की राय थी कि गाँधीजी ने तरुणाई में कभी

कस्तूरबा का चुंबन नहीं लिया होगा?' भादुड़ी जी का यह सवाल सुनकर रेणु देर तक हँसते रहे। लेकिन भादुड़ी जी ने फिर कहा—'तुम गद्य क्यों नहीं लिखते हो? अरे, कहानी लिखो, कहानी! तुम्हारी बातें, गप्पें कितनी जमती हैं। तुम अगर लिखो तो तुम्हारी कहानियाँ ख़ूब जमेंगी...' फिर देर तक भादुड़ी जी ने रेणु को कविता एवं गद्य की रचना-प्रक्रिया के बारे में बतलाया था।

सतीनाथ भादुड़ी भी अपने प्रख्यात शिष्य फणीश्वरनाथ रेणु की तरह ही एकाएक साहित्य संसार पर छा गए थे। उनका भी प्रथम उपन्यास (*जागरी*) *मैला आँचल* की तरह एकाएक विख्यात हो गया था। बांङ्ला में विशिष्ट साहित्यिक कृति के लिए रवीन्द्र पुरस्कार पहले-पहले *जागरी* पर ही मिला था। उनका भी कथा-क्षेत्र पूर्णिया जनपद के इर्द-गिर्द ही फैला हुआ था। वस्तु-तत्त्व की पैनी पकड़ वाला प्रमुख गुण रेणु को भादुड़ी जी से ही प्राप्त हुआ।

गुरु और शिष्य दोनों भागलपुर सेण्ट्रल जेल में ढाई-तीन वर्ष साथ रहे। एकांत निवास के लिए दोनों ने अधिकारियों से कहकर दो अलग-अलग सेलें ले ली थीं। बांङ्ला भाषा का प्रख्यात उपन्यास *जागरी* वहीं सेल में तैयार हो रहा था। वहीं दूसरे सेल में *मैला आँचल* की भावभूमि एक तरुण कथाकार के हृदय पटल पर खचित होती जा रही थी। ठीक दस वर्ष बाद *मैला आँचल* काग़ज़ के पन्नों पर पूरी तरह उतर आया।

रेणु के पिता शीलानाथ जी कूर्म क्षत्रिय वंश के संपन्न और सहृदय किसान थे। मिथिला और बंगाल की संस्कृतियों ने समान रूप से इस ख़ानदान पर अपना प्रभाव छोड़ा था। फारबिसगंज इन दिनों एक औद्योगिक क़स्बे के तौर पर विकसित हो गया है। पूर्वी नेपाल का विराट नगर वहाँ से अति निकट है। पहाड़ी पगडंडियों से जाने पर दार्जिलिंग भी दूर नहीं पड़ेगा। मिथिला का यह छोर नेपाल और बंगाल को भली-भाँति छूता है। रेणु का गाँव 'औराही हिंगना' उत्तर-पूर्व-सीमांत-रेलमार्ग (एन.ई.एफ.आर.) पर सिमराहा स्टेशन के पास फारबिसगंज से 10 किलोमीटर दक्षिण, आम के बाग़ों और हरे-भरे खेतों के मध्य आबाद है। आवागमन के लिए सवारी के नाम पर आज भी बैलगाड़ियाँ ही एक-मात्र साधन है। ऐसे घनघोर ग्रामांचल में रेणु पैदा हुए। दादी (पितामही) ने रिनुआ कहकर इसलिए पुकारना शुरू किया कि यह बच्चा अपना ऋण वसूलने आया है...। बाद में लाड़-प्यार का वही घरेलू नाम रिनु से रेणु हो गया। राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियों में गहरी दिलचस्पी के चलते, पिता के मित्रों का दायरा बड़ा था। बंगाली एवं नेपाली भद्रजनों में से ऐसे अनेक थे जिनसे रेणु के पिता (शीलानाथ जी) की आत्मीयता थी। तभी तो रेणु के बचपन के दो-ढाई वर्ष विराटनगर में गुजरे। कोइराला परिवार के बटुक

विद्यार्थियों के साथ हाई स्कूल का छात्र जीवन अररिया में। रामकृष्ण मिशन के सेवाधर्मी संन्यासियों का प्रभाव रेणु के किशोर हृदय पर कैसा पड़ा, इसकी झलक हमें *कितने चौराहे* नामक लघु उपन्यास में मिलती है। विप्लवी तरुणों, ममतामयी माताओं, प्रीतिस्निग्ध बहनों, आवारा टाइप के क़स्बाई छोकरों के ढेर सारे खंडचित्र हमें *कितने चौराहे* में मिलते है।

किशोरावस्था में ही राष्ट्रवादी बुज़ुर्गों तथा समाजवादी युवकों से रेणु परिचित होने लगे। उनके पिता स्वयं तो कभी जेल नहीं गए। किन्तु फ़रार नेताओं और कार्यकर्ताओं को अपने यहाँ छिपाकर रखने का उन्हें शौक़ था। वर्जित और निषिद्ध साहित्य (*चाँद* का फाँसी अंक, *भारत में अँग्रेजी राज्य* आदि-आदि) बाबू शीलानाथ जी के घर पर गुप्त रूप में रखवा दिया जाता था। वैसे ही मित्रों की राय मानकर पिता ने पुत्र को काशी विद्यापीठ भेजा था। आचार्य नरेन्द्र देव, यूसुफ़ मेहर अली, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि से लेकर भगतसिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे प्रकट-अप्रकट व्यक्तियों के प्रति मानसिक लगाव की दृष्टि से बनारस में गुज़रे वे कुछेक वर्ष रेणु के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण साबित हुए। साहित्य साधना के संस्कार भी वहीं गहरे हुए। डिग्री वाली पढ़ाई से जी उचट गया। ललित-कलाओं के प्रति रुझान आयातित नहीं, सहज था—पारिवारिक आंचलिक उपलब्धियों का अंश था।

शाहख़र्च, मिलनसार, कला-प्रेमी, रसिक; सुकंठ-धीर ललित नायक के जो लक्षण बतलाए गए हैं, वे सारे रेणु में विद्यमान थे। सूरत साँवली थी, श्यामसुंदर। पतले होंठों से झाँकते हुए मोतिया दाँत चेहरे को और भी आकर्षक बना देते थे। मैथिली और भोजपुरी के पचासों लोकगीत याद थे। सारंगा, सदावृक्ष, लौरिक आदि लंबी-लंबी लोकगाथाएँ गाते हुए रेणु को जिन्होंने एक-आध बार भी सुना है वे उन्हें कभी नहीं भूल सकेंगे। लोकगीत, लोकलय, लोककला आदि जितने भी तत्व लोक-जीवन को समग्रता प्रदान करते हैं उन सभी का समन्वित प्रतीक थे फणीश्वरनाथ रेणु। मेरी यह पक्की धारणा है कि ऐसा उत्कट मेधावी युवक यदि कलकत्ता जैसे महानगर में पैदा हुआ होता और यदि वैसा ही सांस्कृतिक परिवेश, तकनीकी उपलब्धियों का वही माहौल इस विलक्षण व्यक्ति हो हासिल हुआ रहता तो अनूठी कथा-कृतियों के रचयिता होने के साथ-साथ सत्यजित राय की तरह फ़िल्म निर्माण की दिशा में भी यह व्यक्ति अपना कीर्तिमान स्थापित कर दिखाता। रेणु की कथा-कृतियों में ऐसे बीसियों पात्र बिखरे पड़े हैं। बावनदास से लेकर अग्निखोर तक जाने कितने कैरेक्टर रेणु ने पाठकों के सामने रखे हैं। उनमें से एक-एक को बड़ी बारीकी से तराशा गया है। ढेर-के-ढेर प्राणवंत शब्दचित्र हमें

गुद्‌गुदाते भी हैं और ग्रामजीवन की आंतरिक विसंगतियों की तरफ़ भी हमारा ध्यान खींचते चलते हैं। छोटी-छोटी ख़ुशियाँ, तुनुकमिज़ाजी के छोटे-छोटे क्षण, राग-द्वेष के उलझे हुए धागों की छोटी-बड़ी गुत्थियाँ, रूप-रस-गंध-स्पर्श और नाद के छिट-पुट चमत्कार...और जाने क्या-क्या व्यंजनाएँ छलकी पड़ती हैं रेणु की कथा कृतियों से!

ऐसे भी पाठक आपको मिलेंगे जो कहेंगे—'भई, मुझसे तो *मैला आँचल* पढ़ा ही नहीं गया। एक बार दस पेज पढ़ गए, फिर दूसरी बार शुरू किया तो पाँच-सात पन्ने और पढ़ गए और बस...। ऐसे पाठकों से आप क्या कहिएगा? मैं तो उनसे यही कहूँगा कि विश्व-विख्यात सितार वादक श्री रविशंकर की कला का स्वाद हासिल करने के लिए जिस तरह सधे हुए कानों वाले ही श्रोता होते हैं उसी तरह रेणु की कथा-कृतियाँ का आनंद उठाने के लिए सहृदय ही योग्य पाठक होगें...।

जीवन के अंतिम क्षणों में रेणु की आयु 56 वर्ष की थी। प्रशासकीय तानाशाही के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करने वालों में, रेणु अगली क़तार में भी आगे ही खड़े हो गए थे। पद्‌मश्री वाला पदक (मेडल) सरकार का वापस कर दिया था। 300 रुपए मासिक वाली आजीवन पेन्शन लेना भी छोड़ दिया था...।

72 वाले प्रादेशिक निर्वाचन में रेणु निर्दलीय उम्मीदवार के तौर पर चुनाव लड़े थे। कई पार्टियों ने टिकट देना चाहा था, रेणु ने क़बूल नहीं किया। लाभ और लाभ की राजनीति से रेणु को उसी तरह नफ़रत थी जिस तरह उनके साहित्य-गुरु सतीनाथ भादुड़ी महाशय को नफ़रत थी।

[*आजकल*, '78]

निबंध

मेघकाव्य : नया परिप्रेक्ष

मेघदूत हमारे भारतीय वाङ्मय का एक अनुपम अंश है। कविकुल-गुरु कालिदास की यह रचना विश्व-साहित्य में बेजोड़ समझी गई। दुनिया की प्रमुख भाषाओं में आज इसका अनुवाद सुलभ है। अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, सिंहली, तिब्बती रूपांतर देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। अपने देश में *मेघदूत* के अनुवाद हिन्दी, उर्दू, बांड्ला, मराठी आदि भाषाओं में उपलब्ध हैं।

यूरोप और पश्चिमी संसार के समक्ष *मेघदूत* को उपस्थित करने का श्रेय है होरेस हेमन विल्सन साहब को। उन्होंने अपना अंग्रेज़ी अनुवाद *क्लाउड मैसेंजर* सन् 1813 ई. में कलकत्ता से प्रकाशित कराया। विल्सन ईस्ट इंडिया कपनी के असिस्टेण्ट सर्जन थे और रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में मंत्री भी। संस्कृत-प्राकृत-पालि-अपभ्रंश की दसियों कृतियाँ उनके द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित हुईं और इस प्रकार पाश्चात्य जगत् के समक्ष पहुँचीं। *मेघदूत* का परिचय रूस को सौ वर्ष बाद प्राप्त हुआ ठीक 1913 ई. में जबकि ख़ारकोव से उसका प्रथम रूसी संस्करण बाहर आया। तब से 'ओब्लाको वेस्तनिक' वहाँ के जनसामान्य की प्रिय वस्तु बना हुआ है। बारहवीं-चौदहवीं सदियों के मध्य का तिब्बती *मेघदूत* अब भी उपलब्ध है। एक-एक भाषा में पीछे कई-कई रूपांतर होते रहे।

हिन्दी में *मेघदूत* के पद्यानुवाद अब तक मैं आठ देख चुका हूँ, कुछ और भी अवश्य होंगे—अप्रचारित या अप्रकाशित स्थिति में। गद्यानुवाद छह-सात मिले हैं। सर्वप्रथम पद्यानुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने किया ब्रजभाषा में जो कि 1882 ई. में प्रकाशित हुआ था। पीछे के अनुवादकों में ठाकुर जगमोहनसिंह, अवधवासी भूप उपनाम लाला सीताराम बी. ए., राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंडित केशवप्रसाद मिश्र और पंडित रामदास आदि के नाम आते हैं। इनमें से कुछ अनुवाद तो बेहद लोकप्रिय हुए। मुझे लक्ष्मणसिंह, देवीप्रसाद पूर्ण और केशवप्रसादजी वाले रूपांतर विशेष प्रिय रहे हैं।

अपने इस काव्य के लिए कालिदास ने 'मंदाक्रांता' छंद को चुना था। सत्रह-सत्रह अक्षरों का एक-एक चरण होता है इस छंद का। आरंभ के चार अक्षर द्विमासिक, फिर पाँच अक्षर एक मात्रिक (ह्रस्व), फिर एक द्विमासिक के साथ स्वर-क्रम झटका खाता है; फिर ग्यारहवाँ अक्षर द्विमासिक (गुरु), बारहवाँ एक-मात्रिक, तेरहवाँ और चौदहवाँ द्विमासिक, पंद्रहवाँ एकमात्रिक और सोलहवाँ-सत्रहवाँ दोनों ही द्विमासिक। अर्थात्—

ना ना ना ना, न न न, न न ना, ना न ना, ना न ना, ना
आँ खे मूँ दे व्य थित स्व र में मे घ से य क्ष बो ला

कश्चित् कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः

इस प्रकार समग्र *मेघदूत* काव्य एक इसी छंद में गुंफित है। काश्मीर-निवासी महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने *सुवृत्ततिलक* में लिखा है कि वर्षा ऋतु प्रवास अथवा विपत्ति का वर्णन करना अभीष्ट हो तो 'मंदाक्रांता' का सहारा लेना चाहिए। संभवतः मेघदूत की विषयवस्तु और तदनुकूल इसकी लयबद्धता के कारण ही क्षेमेन्द्र उक्त निर्णय पर पहुँचे थे।

भारतीय छंदों की गेयता के संबंध में, ऋचाओं के संबंध में, तात्कालिक लोकलय से अनुप्राणित प्राकृत-पालि की गाथाओं के संबंध में प्रामाणिक शोध-कार्य अब तक आरंभ नहीं हुआ है। अपनी इस विप्रलंभ-रस-रचना के लिए अकारण ही महाकवि ने मंदाक्रांता छंद को नहीं चुना होगा। यह काव्य रस-सिद्ध तो है ही, स्वरसिद्धि भी कभी अवश्य रहा होगा।

दिवंगत आचार्य लक्ष्मीधर वाजपेयी ने *मेघदूत* का अपना अनुवाद मंदाक्रांता छंद में ही किया था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि कतिपय मनीषियों ने वाजपेयीजी के इस प्रयास की भूरि-भूरि सराहना की थी। परन्तु समासशक्ति की गुंज़ाइश न रहने के कारण कालिदास की एक पंक्ति का हिन्दी-रूपांतर कोई एक ही पंक्ति में हमेशा कर ले जाए, यह हो नहीं सकता। पच्चर ठोकते-ठोकते मर जाइएगा फिर भी ढिलाई दूर नहीं होगी! भाव पूरा नहीं आएगा।

प्रस्तुत रूपांतर और मुक्तवृत्त

मैं बहुत दिनों से सोचता रहा, सोचता रहा कि किस प्रकार कालिदास की मूलभावना को ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचा दिया जाए। हिन्दी कविता का आधी शताब्दी का विकासक्रम सामने था। निराला थे, तारसप्तकों की झंकार थी, सरदार जाफ़री का शृंखलित मुक्तवृत्त था। कई कृती कलाकारों के गद्यकाव्य थे। प्रयाग के नए साहित्यकारों की हमारी अपनी गोष्ठी तो ख़ैर थी ही।

आख़िर इस अनुवाद के लिए मैंने 'स्वच्छद' छंद को ही चु[illegible] [illegible]नय.— पंक्तिविच्छेद की शैली में गुंफित गद्यकाव्य का यह ढाँचा मुझे क्यों प्रिय है, बता नहीं सकता!

मुक्तवृत्त की इन योजनाओं के प्रति हमारा आज का यह जो लगाव है, इसके कई हेतु हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य जिस तरह यूरोप-अमेरिका और बंगाल के काव्य-प्रयोगों

का ऋणी है अपनी विषयवस्तु के लिए, ठीक उसी प्रकार रचनाविन्यास की दिशा में भी वह उनका उधार खाता आया है। बंगाली कवियों पर पश्चिमी काव्य-धारा का प्रभाव स्पष्ट है। माइकेल मधुसूदन दत्त अपने अभिनव प्रतीकों, उत्प्रेक्षाओं, व्यंजनाओं और छांदसिक विच्छित्तियों की वजह से ही युगांतरकारी कवि कहलाए। इस प्रख्याति के पीछे उनकी अपनी प्रतिभा तो थी ही मगर पाश्चात्य काव्य-प्रयोगों का उनका गंभीर पांडित्य भी माइकेल की कवि-कीर्ति का अन्यतम आधार अवश्य था। गद्यकाव्य या काव्यगद्य की शैली में रवीन्द्र की अँग्रेज़ी *गीतांजलि* प्रकाशित हुई तो उधर के कुछ एक विदग्ध मीमांसकों ने कहा—भारतीय कवि की यह कोई अपनी शैली थोड़े है, यह तो *बाइबिल* से उधार ली हुई टेकनीक है! इसके प्रतिवाद में रवीन्द्रनाथ ने वैदिक ऋचाओं की ओर संकेत किया था। और यही बात निराला ने *परिमल* की भूमिका में लिखी है अपनी मुक्तवृत्तता का निदान बतलाते हुए। निराला अपने मुक्त-छंदों में स्वरों की उपेक्षा कभी नहीं करते, स्वतंत्र होते हुए भी उनके काव्यप्रयोग स्वरसंहिता से संयुक्त रहे हैं।

श्री हंबर्ट वुल्फ ने *विश्वकोश* में भाव को ही मुक्त छंद का उद्‌गम बतलाया है। अँग्रेज़ी *बाइबिल* का अनुलेखन-काल 17वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में माना गया है। ईसाइयों के उक्त निकाय-ग्रंथ में दाऊद और सुलेमान (संत सोलोमान) के उद्‌गारों की काव्यात्मक लयबद्धता, भावमूलक होने के कारण ही तो हमें इस प्रकार खींचती है। वैदिक ऋचाएँ, उपनिषद् के वाक्य, पालि-प्राकृत के सुत्त, आयुर्वेद की संहिताएँ, दर्शनों और व्याकरणों के सूत्र एवं वृत्तियाँ, पिछले युगों में निर्मित भाष्य-महाभाष्य—भारतीय वाङ्मय की यह लंबी परंपरा स्वरशून्य गद्यों की नीरस परंपरा नहीं रही। विषय-वस्तु के साथ-साथ गेय तत्त्व का यह सामंजस्य हम *दशकुमारचरित* में भी पाते हैं और *हर्षचरित* तथा *कादम्बरी* में भी।

तथापि यह मानना होगा कि वास्तविक मुक्त-छंद आधुनिक युग की ही उपज है। हमारे साहित्यिक प्रयोगों की श्रृंखला अन्यान्य देशों के साहित्यिक विकास की परंपरा से जुड़ी हुई है। यूरोप और अमरिका के कवियों ने अपने-अपने यहाँ की छांदस परिधि को कैसे तोड़ा, क्यों तोड़ा, हमें यह समझ लेना होगा।

फ्रांस, इटली, अमेरिका, रूस और इंग्लैण्ड में मुक्तवृत्त की यह नई परंपरा पनपी। राजनैतिक, औद्योगिक एवं सामाजिक उथल-पुथल के दौर में वहाँ के कवियों में अपूर्व मनोमन्थन चला। क्या अंतस्तत्त्व, क्या बाह्य विधान, कविकर्म की 'सनातन' रूढ़ियाँ टूक-टूक हो गईं? ओजस्वी प्रतीकों का पुरुष, कवि मायकोव्स्की की प्रतिभा का उन्मेष इसी अभिनव माध्यम के द्वारा हुआ। 19वीं सदी के अंतिम और 20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में फ्रांस की काव्यात्मा बूर्ज्रुआ

विकृतियों का शिकार हो गई; तब से वह अपंग ही पड़ी थी। इधर आकर '40 के बाद लुई अरागों और पाल एलुआर ने उसकी नसों में नवजीवन का संचार किया है। चिली-निवासी (परन्तु अपनी भूमि से निर्वासित) कवि पाब्लो नेरूदा और हाल ही विश्व के साहित्य-गगन में चमकने वाले तुर्की कवि नाज़िम हिक़्मत की भी वाणी मुक्तछंदों में ही प्रवाहित है।

फक्कड़ अमरीकी कवि वाल्ट व्हिट्मैन अपने युग में ओजस्वी भावनाओं का सर्वश्रेष्ठ शब्द-शिल्पी था। पहाड़ी नदी के प्रखर प्रवाह की तरह उसकी कविता बह निकली, छंद संबंधी बंधनों की रत्ती-भर भी परवाह व्हिट्मैन को नहीं थी! डेमोक्रेसी ही उसकी प्रेरणाओं का स्रोत रहा। परन्तु आज के मुक्तछंदी कलाकारों का मसीहा वह बूढ़ा अमरीकी नहीं है, एज़रा पाउण्ड और टी.एस. एलिएट को ही अब इस दिशा में उपाध्याय एवं महोपाध्याय का आसन प्राप्त है। और इन दोनों पर किसका प्रभाव पड़ा था? फ्रांस के प्रतीकवादियों का असर तो ख़ैर सर्वव्यापी था ही, चीन की प्राचीन कविताओं से भी शब्दशिल्प की यह स्वच्छंद शैली उन्होंने अपनाई। अंग्रेज़ी में हॉपकिन्स का भी प्रभाव इन कवियों पर माना जाता है। वैदिक ऋचाओं के ढंग भी पाउंड और इलिएट को प्रिय हैं, उनसे उन्होंने कुछ लिया भी है।

कहना नहीं होगा कि व्हिट्मैन का मुक्तछंद सर्वथा विमुक्तबंध था परन्तु आज का मुक्तछंद सुसंयत एवं सुगठित है। छंदों का सामान्य गुंफन जिस कौशल की अपेक्षा रखता है, इसमें उनसे कहीं अधिक निपुणता अपेक्षित रहती है। छंदों पर जिनका अच्छी तरह अधिकार होगा, मुक्तवृत्त की रचना में वही सफल रहेंगे। इसी प्रकार, मुक्तछंद के वैरूप्य एवं वैविध्य की अभिज्ञता छांदस प्रतिपत्ति में सहायक होगी।

यथा-तथा रचित ऊटपटाँग पंक्तियों का सस्वर पारायण श्रुतिमधुर किंवा श्रवणोत्तेजक हो सकता है किन्तु कविता की असल कसौटी तो श्रुतिमधुरता या श्रवणोत्तेजकता मात्र नहीं हुआ करती! ठीक उसी प्रकार, टेढ़ी-मेढ़ी सर्पिल पंक्तियों का कथंचित् विन्यास मात्र मुक्तवृत्त नहीं होगा। हाँ, छंद-संबंधी अपनी अक्षमताओं पर पर्दा डालने का इससे बढ़िया कोई दूसरा तरीक़ा शायद ही हो! आए दिन, हम देखते हैं कि कई-एक मूर्धन्य साहित्यकार अब अपनी बुढ़उती में मुक्तवृत्त पर हाथ साफ़ कर रहे हैं!! नौसिखुओं को तो समझा-बुझा लीजिएगा लेकिन सद्यः कवि-कीर्ति के इन लालची महानुभावों का क्या इलाज करेंगे आप?

मुक्तछंद का मौजूदा रूप भी स्थिर नहीं रहेगा। हमारे देश की वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक विकास जिस प्रकार लोकचेतना को स्फीत-स्फुरित करते चलेंगे, उसी प्रकार काव्य-प्रयोगों में भी परिवर्तन होता चलेगा।

आज फिर काव्यात्मा लोक-गीतों की ऋजुता पर उतर आना चाहती है। मुक्तछंद ने गद्य की भाषा को पूर्ण कर दिया है और पद्य के संकुचित दायरे को काफ़ी फैला दिया है। इस शैली में क्या कुछ नहीं लिखा गया? सब कुछ लिखा गया है इसमें। प्रथम श्रेणी के विश्वकवियों ने खुले बंदों की लचकीली पंखुड़ियों पर अपनी-अपनी प्रतिभा को थिरकाया है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु मुक्तछंद में तैयार की गई। राजनीतिक नारेबाज़ी, सामाजिक विस्फोट, शिशुओं को सुलाने के लिए लोरियाँ, संतों की सूक्तियाँ, शृंगार और विप्रलंभ, हास-परिहास, काकु और वक्रोक्ति...मुक्तछंद सबको निहाल कर चुका है। कवियों और गद्य-लेखकों को इसने एक ही आसन पर ला बिठाया है। मात्रिक बंधनों और अंत्यानुप्रासों के जटा-जाल में उलझी हुई कविप्रतिभा को गद्य की समतल भूमि पर उतार लाने का श्रेय इसी मुक्तवृत्त शैली को है।

अनुभव से मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि किसी रचना में अंत तक मुक्तवृत्त की शैली को निभा ले जाना बड़ा ही दुष्कर काम है। पंक्ति तीन शब्दों की हो चाहे पाँच-छह या दस-ग्यारह-बारह शब्दों की, या चार-आठ-बारह शब्दों की हो, गेयता की दृष्टि से उस पंक्ति का किसी न किसी क्रम में छंदगंधी होना आवश्यक है। अर्थात् किसी न किसी छंद के महीन धागे के सहारे ही यदि पंक्ति की तितलियों को ऊँचा उड़ने दिया जाए और इस प्रकार शब्दशिल्प का सूत्रधार अपनी लाडली पुतलियों पर क़ाबू रख सके तो सफलता निश्चित है। इस कौशल का निर्वाह हुआ हो तो उसे मैं 'गुंफित मुक्तवृत्त' कहूँगा। उदाहरण के लिए :

मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा-रेखा पर
रोने में था आरंभ, किन्तु गीतों में मेरा अंत हुआ...
मैं एक अधूरी कथा
कला का मरण-गीत रोने आया

(*तारसप्तक*—1, गिरिजा कुमार माथुर)

अथवा—

फूटा प्रभात, फूटा विहान
छूटे दिनकर के शर, ज्यों छवि के वह्नि-बाण
आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप
लौ भरे सीप

(वही, भारत भूषण अग्रवाल)

अथवा-

एकांत सत्य बहते रहना
सुधि संबल ले चिर-एकाकी
बस सफर-सफ़र...

(वही, प्रभाकर माचवे)

यह तो रही व्यवस्थित या सुसंयत मुक्तछंद की बात। अब असंयत या अव्यवस्थित मुक्तछद पर आइए।

मात्राओं के बंधन से बिलकुल अलग, छंद की स्थूल किंवा सूक्ष्म लाक्षणिकता से सर्वथा अछूता। परन्तु, आवेगमय भावनाओं पर सवार या फिर वक्रोक्तियों से दमकता हुआ...

मगर इसमें भी स्वरों की गुंज़ाइश रहती है। घनाक्षरी, मनहर जैसे वार्णिक छंदों के पाए पर मुक्तवृत्त के इस प्रभेद को मजे में खड़ा किया जा सकता है। कभी-कभी लोक-कथा की तुकांत शैली भी इसमें आकर भिड़ जाती है तो पंक्तियों की पूँछें जगमगा उठती हैं! भावनाट्य के लिए यह शैली ख़ूब ही उपयुक्त बैठती है। इसे मैं 'निबंध मुक्तवृत्त' कहूँगा। उदाहरण के लिए—

बाँसरी प' चला इमनकल्याण
बेला पर बिछ गया बेसुध मालकोश
बाएँ और दाएँ हाथ की बीचवाली तीनों उँगलियाँ
तबला और डुग्गी पर
नचा गई जाने किस-किस राग को।
तदनंतर कविताएँ सुनी गई...

अथवा—

सरग था ऊपर, नीचे था पाताल
अपच के मारे बुरा था हाल
दिल-दिमाग़ भुस के, खद्दर की थी ख़ाल

अथवा—

अभी तो तरुणी हूँ
चौंकते युवजन
भिक्षापात्र लेकर जब मैं निकलती

अथवा—

इसी होटल के क़रीब
भूखे मजबूर गुलामों के गिरोह
टिकटिकी बाँध के तकते हुए ऊपर की तरफ़

मुंतज़िर बैठे हैं उस सायत ए-नायाब के, जब
बूट की नोक से नीचे फैंके
अजनबी देस के बेफ़िक्र जवानों का गिरोह
कोई सिक्का, कोई सिगरेट, कोई केक
या डबलरोटी के जूठे टुकड़े
छीना-झपटी के नज़ारों का मज़ा लेने को
पालतू कुत्तों के एहसास पै हँस देने को।
भूखे मजबूर गुलामों का गिरोह
टिकटिकी बाँध के तकता हुआ इस्तादा है।

(*अजनबी मुहाफिज* : साहिर लुधियानवी)

कहना नहीं होगा कि *मेघदूत* का प्रस्तुत अनुवाद भी इसी शैली में तैयार किया गया है। आरंभ में कुछ-एक श्लोकों तक अनुवादक की चेतना पर निराला छाए रहे, बाद को उसने उनसे छुटकारा पा लिया।

यहाँ मैं खुले तौर पर स्वीकार कर लूँ कि यह प्रयास कोई सर्वातिशायी प्रयास नहीं है। भविष्य में अच्छी से अच्छी प्रतिभा कालिदास को हिन्दी की भावभूमि पर उतारेगी।

मेघदूत : उसकी लोकप्रियता के कारण

शापग्रस्त एक विरही यक्ष ने पावस के उमड़ते बादलों को देखा तो बेचैन हो उठा। अपनी प्रियतमा की याद में विह्वल होकर उसने मेघ से प्रार्थना की— तुम्हें मेरा दूत बनना पड़ेगा मेघ भाई! अपनी भाभी के नज़दीक जाना होगा, चाहे जैसे भी जाओ, जाना मगर होगा ही... तकलीफ़ तो तुम्हें इसमें ज़रूर होगी, लेकिन भाई का काम भाई नहीं करेगा तो और कौन करेगा?...

—भारतीय कवि की यह अनूठी सूझ थी। वैदिक, औपनिषद् एवं पौराणिक प्रतिभा जहाँ तक छलाँग मार चुकी थी, यह पहली दफ़े भारतीय प्रतिभा वहाँ से आगे उड़ी। पावस का प्रथम मेघ अपनी मस्ती में था, धीरललित गति के आकाश की सैर कर रहा था वह।...किन्तु चेतना की गिरफ़्त में पड़कर अचेतन तत्त्व बिल्कुल ही ठिठक गया। कुछ बस नहीं चला मेघ का, पूरी-की-पूरी बात विरही यक्ष की उसे सुननी पड़ी! अनुनय और स्नेह का बंधन कोई मामूली बंधन थोड़े हैं?

—सो मेघभाई को आख़िर दूत बनना ही पड़ा!

मेघदूत को हमारे यहाँ के टीकाकारों और साहित्य-मीमांसकों ने एक अपूर्व

खंडकाव्य माना है। व्याख्याकार स्थिरदेव (11वीं सदी) कालिदास की इस कृति को काव्य अथवा खंडकाव्य नहीं, अपितु महाकाव्य मानते हैं। इनकी राय में, महाकाव्य के अठारहों लक्षण *मेघदूत* में मिलते हैं, फिर आप *मेघदूत* को क्यों नहीं महाकाव्य कहिएगा?

—*मेघदूत* खंडकाव्य है

—*मेघदूत* काव्य है

—*मेघदूत* महाकाव्य है

साहित्य-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार वह चाहे कुछ भी हो, परन्तु साधारणतः विचार करने पर इतना तो बेझिझक कहा जा रहा है—*मेघदूत* भारतीय काव्यजगत् में सर्वथा नूतन परंपरा का आरंभ था। हमारे वाङ्मय के लिए यह एक अभिनव अवदान था कालिदास की तरफ़ से।

महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने इंगित किया है और *मेघदूत* के कतिपय अन्य टीकाकारों की भी राय है कि मेघ से दूत का काम लेने की प्रेरणा कालिदास ने आदिकवि वाल्मीकि से ली होगी—पवनपुत्र हनुमान भी तो लंका पाँव-पैदल नहीं गए थे न? राम का संदेश सीता तक पहुँचा देना और फिर सही-सलामत वापस आ जाना...आदिकवि ने अजनी-नंदन से इतना काम तो अवश्य ही करवा लिया। तो, कालिदास का विरही यक्ष वही काम मेघ के सुपुर्द करता है—और सो भी गया तो कभी वापस नहीं आया! पता नहीं, उस बेचारी का क्या हुआ आख़िर! बाक़ी चार महीने इस ग़रीब के कैसे कटे, आज तक किसी ने नहीं बतलाया हमें!

तो, क्या कालिदास की प्रतिभा *मेघदूत* उधार ले आई थी? यक्ष-संदेश का श्रेय क्या आदिकवि को ही प्राप्त है?

—नहीं, नहीं, नहीं। नहीं, बिलकुल नहीं।

मेघदूत की कल्पना कालिदास की मौलिक कल्पना थी, बिलकुल अपनी सूझ थी। यहाँ एक चक्षुष्मान् पृथ्वीपुत्र की नैसर्गिक उद्भावना थी यह...अपने हिन्द के गँवई गीतों की कड़ियाँ आज भी तो वह काम लेती हैं बादलों से!

दूत के रूप में मेघ को यक्ष के समक्ष पेश करना मौलिक तो ख़ैर था ही, कवि-कल्पना का भारतीय सीमांत भी था यह। ग्रीष्मशेष के धूलिधूसर आकाश में काले-कजरारे बादल देखते ही हमारा दिल थिरकने लगता है। और कहीं, स्नेही स्वजन निकट न हुए तो मन की दशा बुरी से बुरी हो जाती है; जी उचट जाता है बिलकुल, उस बदहाली का भला क्या पूछना!

यों भी तो भारतीय जन-मन पर मेघ छाया हुआ है। हमारी खेती-गिरस्ती उसी पर निर्भर है। अपना प्राचीनतम वाङ्मय—वेद—मेघ-महिमा से मुखर हैं। यहाँ मेघ

केवल आकाश में ही नहीं रहा, ऋचाओं और मंत्रों की सवारी की है उसने। प्राकृत और पालि की गाथाएँ, संस्कृत के छंद, अपभ्रंशों के आख्यान, आंचलिक बोल, प्रादेशिक लोक-कथाएँ...बिन्दुमाल सौदामिनी-वल्लभ मेघमहाराज की तरल करुणा से सिक्त है हमारा समग्र वाग्वैभव।

पी. रित्तेर (मे. का रूसी अनुवादक) की राय में *मेघदूत* ''करुणापूर्ण संतप्त स्वगत उद्‌गार'' है। *मेघदूत* का सारांश बता चुकने के बाद वह लिखते हैं:

यात्रामार्ग; तदनंतर कुबेर के कल्पित राज्य तथा स्वयं यक्ष के निवासस्थान का वर्णन और साथ पौराणिक व काल्पनिक आख्यानों से लिए गए सुझाव, दृष्टांत, चित्र आदि कालिदास की काव्यकला के निमित्त प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। *मेघदूत* का एक-एक पद्य अपने आप में परिपूर्ण-परिमार्जित-सुसंयत चित्र है, जिन्हें एक सूत्र में पिरोकर एक अनूठे कंठहार का रूप दे दिया है कवि ने। उन रंग-बिरंगे चमकदार पद्यरत्नों के सहारे एक मनोरम चित्र तैयार कर लिया गया है। वे केवल प्रेम तथा संभोग के मजे लूटते रहें, यक्षों की सृष्टि विधाता ने की ही इसीलिए। परंतु यहाँ बेचारा यह यक्ष विरह का शिकार हो गया बुरी तरह। अभिशप्त यक्ष की मनोदशा का वर्णन करते-करते कवि की संगीतात्मक करुणा बह निकली है।

इस करुण गीति-काव्य के विषय में बहुत-सी बातें बतलाकर रित्तेर साहब पाठकों से पूछते हैं— 'एस्थेटिक एनजॉयमेण्ट' (सौन्दर्यमूलक रसोपलब्धि) नाम का वह यूरोपीय रस सही माने में *मेघदूत* की कविता का आस्वादन करा सकेगा क्या?

और स्वयं ही वह इस प्रश्न का समाधान भी करते हैं—हाँ, अवश्य करा सकेगा। यह ठीक है कि रसों के विभाव-अनुभावादि यूरोपवालों की चेतना द्वारा दुर्ग्राह्य है और अंततः उन्हें भारतीय व्याख्या की ओर ही भागना पड़ता है एवं कालिदास के निम्नोक्त कथन की शरण लेनी पड़ती है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।

कहने को यों इस काव्य का नायक है यक्ष, परन्तु मैं तो मेघ को ही कवि की विलक्षण कल्पना का नायक मानता हूँ। विश्वविदित कुल में उसका जन्म हुआ। उसकी अंतरात्मा करुण एवं आर्द्र है। दान में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता। वह कामरूप है, चाहे वह जैसा रूप धारण कर लेता है। वह प्रकृति-पुरुष है, असामान्य व्यक्तित्व वाला! वह ऐसी उत्तम कोटि का है कि उसके समक्ष हाथ

फैलाते वक़्त किसी को लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं होता। संतप्त प्राणी उसी की शरण में आकर शांति प्राप्त करते हैं। इतना प्यारा है वह, इतना भला कि उससे अनुचित प्रार्थना भी की जा सकती है। और, चुपचाप मित्रों का काम कर लाता है...बिजली ठहरी मेघ की प्राणवल्लभा, अलग तो वह होगी नहीं! कवि ने बीच-बीच में तो उसके बारे में कहा ही है। अंत में आशीर्वाद के समय भी वह मेघप्रिया को याद करता है—मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः!

117 चौपदे हैं *मेघदूत* के। उनमें से केवल 14 श्लोक 'संदेश' के हैं। बाक़ी समूचा काव्य यात्रा-पथ-संबंधी निर्देशों से भरा पड़ा है। रामगिरि (रामटेक, ज़िला नागपुर, मध्यप्रदेश) से कैलाश तक पहुँचाने में काव्य का अर्धाधिक अंश चला जाता है। बत्तीस पंक्तियाँ (आठ पद्य) लेती है अलका। फिर करीब साठ पंक्तियाँ (पंद्रह पद्य) विरहिणी यक्षप्रिया के वर्णन में आती हैं और आगे, बेचारी से क्या-क्या कहना है, यही आता है।

प्रेयसी-विरह की प्रत्यक्ष अनुभूति का यह विवरण कोरा कवि-कर्म नहीं, बल्कि कालिदास की निजी संवेदनाओं का सहज परिपाक था। यात्रा-निर्देश के प्रसंग में भी मेघदूत में जितनी पंक्तियाँ आई हैं, सभी स्वाभाविक सौरभ लिए हुए हैं। एक-एक पंक्ति से भारतीय आत्मा ध्वनित हो रही है। धरती, आकाश, नदियाँ, पहाड़, जंगल, मैदान, खेत, खेतिहर, वृक्ष-वनस्पति, उद्भिद् और घास-फूस, गाँव-नगर-उपनगर, बाग़-बग़ीचा, नर-नारी, पशु-पक्षी, देव-देवी...क्या नहीं है *मेघदूत* में?

मेघ रामगिरि से अलका जाने के लिए सीधी राह नहीं पकड़ता है, वह कई जगहों से होता हुआ कैलाश पहुँचता है। इस प्रकार बहुत सारे दृश्य उसके सामने आते हैं। कवि ने जान-बूझकर विस्तृत वर्णन की यह छूट ले रखी है। उज्जयिनी को भला वह कैसे छोड़ता? शिप्रा की चपल लहरें भला कैसे रह जातीं? महाकाल को भला किस प्रकार भूला जा सकता था? मालवा की भूमि का कैसा मोह था कवि को!

यह ठीक है कि *मेघदूत* में, विशेषतः पूर्वमेघ में कवि ने प्रकृति के बाह्य रूपों का चमत्कार दिखलाता है। परन्तु वह क्षण-भर के लिए भी मानवीय भावना को अपने शब्दशिल्प से पृथक् नहीं होने देता। मेघ को भी तो उसने मेघमात्र नहीं रहने दिया। मेघ यक्ष का साथी है, भाई है। उम्र में छोटा ही समझिए! भाई का कुशल समाचार उसे भाभी तक पहुँचाना है। थकने पर वह पहाड़ों पर उतरकर सुस्ता लेता है, प्यास लगने पर नदियों का पानी पीता है। भारी हो उठता है तो बरस-बरसकर हल्का हो लेता है। मानसरोवर की तरफ़ जाने वाले हंस उसका साथी बनते हैं और हरिण उसे राह दिखाते हैं। नदियों से मेघ का प्रेम-संबंध है, यक्ष की हिदायत है

कि वह उनकी उपेक्षा न करे; ज़रा देर हो तो हो, मगर अपनी प्रेयसियों का दिल न तोड़ना! विरहजनित उनकी कृशता जैसे भी मिटे वैसा करना!

उज्जैन में घरेलू मयूर नाच-नाचकर मेघ की अगवानी करेंगे। महलों में वह थकावट उतारेगा और तत्पश्चात् महाकाल के दर्शनार्थ निकलेगा। सायंकालिक आरती के समय उसके मंद-गंभीर गर्जन नगाड़े की कमी पूरा करेंगे। अँधेरी रात में उसका विद्युत्प्रकाश अभिसारिकाओं के लिए मार्गदर्शक होगा। जिसकी गौखों में कबूतर सोए होंगे, उन अटारियों को वह अपना रैनबसेरा बनाएगा।

आगे कुरूक्षेत्र मिलेगा, फिर कनखल में गंगा दिखाई देगी। तत्पश्चात् नगाधिराज हिमालय सामने आएँगे।

हिमालय के जंगलों में आग लगी होगी, मेघ उसे अपनी बौछारों से शांत करेगा। कालिदास का मेघ महिमा और अनुकंपा का प्रतीक है। मुसीबत में पड़ी हुई सृष्टि का संकटमोचन करना उसका स्वभाव है।

और आगे बढ़ने पर उसे कैलाश दिखाई देगा—कर्पूरगौर भगवान शंकर के पुंजीभूत अट्टहास की तरह महाश्वेत महामहोच्च धवल गिरि!

उसी कैलाश की गोद में आबाद यक्षों की अलकापुरी, मेघ को वहीं जाना है।...

अपने देश का यह कवित्वमय भूगोल सिवा कालिदास के और कहाँ किसने पेश किया अपनी जनता के समक्ष? इतनी नदियाँ, इतने पहाड़, इतने अंचल, इतनी विविधताएँ हम और कहाँ पाएँगे?

यों कहने को पूर्वमेघ प्रकृति की ही सुषमा के चित्रों से जगमगा रहा है परंतु उन चित्रों का रँगीलापन कोई सामान्य रँगीलापन नहीं, वह तो मानवधर्म की सहज संवेदनशीलता अंतर्दीप्त है। इसी प्रकार उत्तरमेघ मनोमय होता हुआ भी नैसर्गिक इंगितों से मेदुर बन गया है।

मेघ अलका पहुँचेगा। मुक़ाबला करने वाले महल मिलेंगे उसे वहाँ। क्या ऊँचाई, क्या तड़क-भड़क, क्या चित्रमयता, क्या आवाज़, क्या आर्द्रता...किसी भी दृष्टि से अलका के महल मेघ की बराबरी कर सकते हैं।

सदाबहार मौसम, हमेशा फूलों और फलों से लदे पेड़, कुमुदों-कमलों से सदैव जगमगाती बावड़ियाँ, महीने में तीसों रात अँजोरिया ही अँजोरिया।...

आनंद से उच्छ्वसित होने पर आँखों में पानी आ जाय तो आ जाय, वर्ना वहाँ आँसू दिखाई ही नहीं पड़ते! वेदना सिर्फ़ एक ही हुआ करती है : मदन वेदना। और, उसका इलाज होता है प्रियतम-प्रियतमा का परस्पर समागम। सिवाय प्यार की छेड़ख़ानियों के, अन्य प्रकार का कोई कलह नहीं। और वहाँ धनपतियों (यक्षों) की नगरी में सारी की सारी आयु जवानी ही होती है...

मेघदूत की यह अलका भला क्या थी?
यह थी हमारे भारतीय मन की 'युटोपिया'!
शोक नहीं, आनंद।
अश्रु नहीं, हास।
वियोग नहीं, संयोग।
कलह नहीं, प्यार भरी छेड़ख़ानियाँ।
बुढ़ापा नहीं, जवानी।
मृत्यु नहीं, जीवन।
तम नहीं, नित्यज्योत्स्ना।

--विश्वकल्याण की कामना में व्यग्र आज का हमारा मानव समुदाय स्थायी शांति और सर्वमंगला सृष्टि के लिए अधीर आज का हमारा सचेत सुधीवर्ग क्या यही-कुछ नहीं चाहता? और, कालिदास का मेघसंदेश यदि यही-कुछ है तो वह कभी फीक़ा नहीं पड़ेगा। वह सदैव इसी प्रकार स्फूर्तिप्रद और चेतनामय बना रहेगा।

हमारी कामना अभी अपूर्ण ही है। शोक, अश्रु, वियोग, कलह, वार्धक्य, मृत्यु...किसी पर अब तक हम क़ाबू नहीं पा सके हैं, प्रभुओं के अभिशाप निस्तेज अवश्य हो गए हैं पर मिट नहीं गए हैं पूरी तरह। फिर भी मेघ को हमने जो आशीष दी थी, उसका हमें गर्व है। मेघ की बिजली का ही क्यों, किसी भी प्रीतम से किसी भी प्यारी का बिछोह हमें बर्दाश्त नहीं। हमारी अंतरात्मा आर्द्र है, अतः करुणामय है।

यक्ष की पत्नी सामान्य नारी नहीं है, वह मेघ की भाभी है। मेघ यक्ष का भी कल्याणमित्र है और यक्षिणी का भी। वे दोनों अभिशप्त ठहरे। दोनों तरफ बिछोह है, आँसू है, बेचैनी है। बैरी विधाता ने दोनों का मिलनमार्ग रुद्ध कर रखा है। बीच में हज़ारों कोस का फासला है...संदेश पहुँचाने का भी साधन नहीं है।

ऐसी स्थिति में प्रियतम का कुशल-क्षेम यदि कोई मित्र आकर बतलाए तो उस ख़ुशनसीबी के क्या कहने!

कान्तोदन्तःसुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः

साक्षात्समागम की अपेक्षा तनिक ही कम महत्त्व होगा उस घटना का! प्रेमी का संदेश और सो भी एक अंतरंग बंधु के द्वारा अधिगत!! बंधु भी कोई सामान्य बंधु नहीं, संतप्तों का सहारा...आर्द्र अंतःकरणवाला...सहज करुणाकर!

मेघ के प्रति यह आस्था यक्ष के अंदर जो हम पाते हैं, सो कालिदास की कोई सर्वथा-अभिनव उद्भावना नहीं माना जा सकता इसे। भारतीय लोकमानस के लेखे मेघ सखा भी हैं, साथी भी; यह हमारा भाई भी है, दादा भी। वह हमारा राजा भी

है। साथ ही उसे हम अपना 'लँगोटिया यार' भी मानते आए हैं। हम उसके प्रति इस क़दर ढीठ हैं कि डाँट-फटकार साधारण-सी बात हो जाती है! स्वजन या दिलवर नज़दीक न हुआ तो फिर भारी-भारी ऊदे-ऊदे काले बादलों से हमारे ख़याल बोझिल हो उठते हैं। हमारा जनकवि चीख़ पड़ता है :

1. आए गए काले बादल
घने-गुथे मेघों से छा गया आकाश
बरस रहा है आसाढ़
मगर, यहाँ तो बालम ही नहीं
वह किसी दूसरे देश में है!

2. बादलों से छिटक-छिटक
कौंध रहीं बिजलियाँ
बरस-बरसकर लग जाना चाहता है
ढेर-ढेर-सा पानी
एक गुना अँधेरा हो गया लाख-गुना
उत्तर-दक्षिण का आभास तक मिट गया..

3. क्यों खड़ी है गोरी, मन मारकर?
ठिठक गई है क्यों री, बीच आँगन में?
धरती का है लहँगा
बादल की चोली
चाँदनी के बटन
कसे हैं दोनों स्तन
खड़ी है मनमारे क्यों री, आँगन में

4. नहीं रे ओ! भाई मेरे, तू नहीं आया रे!
कहाँ जाऊँ, करूँ क्या, बहलाऊँ कैसे दिल को?
अंतर में दिन-रात
बस तेरी ही बात
जलाता है लगातार भादों का महीना
ओ मेरे बंधु, फिर भी तू नहीं आया!!

5. काँ-काँ कूँ-कूँ कर रहा है मोर
गरजता है बादल
जगमगा रहे हैं जुही के फूल...

सावन का यह महीना!
हाय रे बटोही,
जिएगी नहीं तेरी प्यारी
अगर तू घर नहीं लौटा...

खंड-खंड रूप में भटकने वाले मेघ पीछे महामेघ का विग्रह धारण करते हैं। इसी प्रकार लोकमानस में समय-समय पर उठने वाले खंड-खंड भाव जब किसी मेधावी द्वारा एकत्र गुंफित होने का अवसर पाते हैं तो उदात्त भाव-भूमि का निर्माण हो जाता है। भावों का गुंफन व्यक्ति का आकस्मिक चमत्कार नहीं हुआ करता। जिस तरह वस्तुसृष्टि अमोघ नियमों से आबद्ध है उसी तरह हमारी भावों की सर्जना भी विकास के निश्चित क्रमों की अनुवर्तिनी है। स्वाभाविकता का जो तारतम्य भौतिक जगत् के अणु-परमाणु में परिलक्षित होता है, आवेगमय मनोजगत् में भी ठीक वहीं क्रम काम करता है। मेघ-संदेश यहाँ एक ही व्यक्ति की अनुभूतियों का फल नहीं है, वह तो समग्र लोकमानस की मेघविषयिणी कल्पनाओं का मार्मिक परिणाम है। कालिदास-जैसा अखूट शब्दशक्ति का अधिस्वामी एवं चमत्कारी अभिव्यंजना का जादूगर ही वैसी अरूप मानस सामग्री को रूपायित करके उसे सर्व-साधारण के समक्ष इस प्रकार रख सकता था।

पंचतंत्र, जातक कथामाला, *कथासरित्सागर*, ईसप की कहानियाँ, आर्थर के आख्यान...इनका संकलन भले ही व्यक्तियों ने किया हो, परन्तु है यह जन-मन की समग्र अनुभूतियों की ही रूपायित राशि। मधुच्छत्र देखकर इतना तो हम अंदाज़ लगा लेते हैं कि नाना दिग्देशों से समय-समय पर स्वल्प या अधिक मात्रा में शहद की मक्खियाँ मकरंद और पराग के कण लाती रही हैं—आदान और आहरण का यह क्रम महीनों चला है, और तब जाकर यह मधुकोष तैयार हो पाया है!...काव्यनिर्माण में भी कवि-मन को ठीक इसी प्रकार की मधुकरी वृत्ति अपनानी पड़ती है।

जो काव्य जितना ही अधिक लोकप्रिय होगा बहुजन की उतनी ही अधिक अनुभव सामग्री उसका आधार होगी। घोंघा-मात्र तक परिसीमित भावभूमि यदि आपको और हमको न छू पावे तो यह केवल उन्हीं के लिए परिताप का विषय होगा जो शैली सर्वस्व शुद्ध घोंघाबसंत होंगे।

कालिदास को मानवीय हृदय की भारी पहचान थी। इसी से उनके साहित्य में हम तत्कालीन मध्यम एवं उत्तम वर्ग के समग्र लोकमानस की ये झाँकियाँ पाते हैं। इसी से *मेघदूत* आज भी हमें इतना अच्छा लगता है। इसी से विरह के दिनों की 'घनीभूत भावाकुलता'[1] का यह चित्र हृदयवालों के लिए इतना प्रिय हो उठा।

1. कलेक्टिव इमोशन (काडवेल)

कालिदास ने मेघ को ही संदेश का वाहन क्यों बनाया? बसंत के समीर को वह इस काम के लिए चुन सकते थे। दक्षिण से आनेवाले मंदानिल को उत्तर की तरफ़ भेजना कितना स्वाभाविक होता!...मगर नहीं, कवि को आषाढ़ी बादल ही पसंद आया क्योंकि उसमें समस्त सृष्टि को संतापमुक्त करने की क्षमता थी। दूत से केवल संवादप्रेषण का ही कार्य लेना होता तो एक बात भी थी परंतु यहाँ तो अनेकानेक उत्तरदायित्व उस पर डालने थे! ग्रीष्मदग्ध पृथ्वी का हृदय शीतल करवाना था, खेत सिंचवाने थे, हंसों को मानसरोवर तक लिवा जाना था, जंगली पहाड़ी नदियों का दुबलापन मिटवाना था, उज्जयिनी में अभिसारिकाओं को मदद दिलवानी थी, कदंबों में फूल उगवाने थे, देवदार के जंगलों की आग ठंडी करवानी थी...बहुत सारे काम करवाने थे इस लाड़ले दूत से!

विरही की बातें विरहिणी तक कोई भी ले जा सकता था—पवन, हंस, चकोर, भ्रमर, या अन्य कोई भी रामगिरि से अलका तक जा सकता था। परंच हमारे कवि को वर्षाकालिक नवजलधर ही इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त जँचा! ऐसा भला क्यों हुआ?

आषाढ़ का मेदुर मेघ जब किसी तरफ़ प्रयाण करेगा तो वह यों ही नहीं देश-काल की दूरी काटता चलेगा। वह औढरदानी ठहरा। स्नेह-सुधावृष्टियों से सप्राण करता चलेगा वह परितप्त संसार को; सरिताओं के सूखे पाट उससे कैसे देख जाएँगे? भ्रू-विलासों में अपरिचित किन्तु प्रीतिस्निग्ध आँखों के प्रति विश्वासघातकर्ता की तो वह कल्पना तक नहीं कर सकेगा—दौत्यमात्र ही इति-कर्तव्यता की उसकी कोटि में नहीं रहेगा। निखिल विश्व के कल्याणसाधन का अपना महाव्रत भी वह साथ-साथ निभाता ही चलेगा। अतिरेक लाभ की यह सुदुर्लभ उपलब्धि अपने बंधुओं को भला और कौन करा पाएगा? विरहदग्ध बांधवी अपने प्रवासी पति के कुशलक्षेम तो पाएगी ही, ग्रीष्मदग्ध भूतल भी पावस का प्रथमोपहार पाएगा। लाभ का अपना-अपना लाभ्यांश सभी को मिलेगा! सृष्टि के प्रति सामान्य मांगलिकता भी अक्षुण्ण रहेगी और संवाद-परिवहन का एक विशेष लक्ष्य भी पूरा हो लेगा।

इस प्रकार हम आसानी से समझ सकते हैं कि पावस के प्रथम मेघ को विरही यक्ष के संवादों का वाहन बनाकर कालिदास के कवि मानस को कैसा अपूर्व परितोष प्राप्त हुआ होगा।

मेघदूत को छोड़कर वर्षा ऋतु का कवित्वमय गुंफन अन्यत्र कहीं नहीं है, किसी भाषा में नहीं और किसी देश में नहीं! कालिदास की प्रतिभा ने पावस की वेदनाओं को शाश्वत भाषा में समोकर मंदाक्रांता की चौपदियों में ढाल लिया।

इस काव्य को मैं मेघ की वर्षगाँठ का महिम्नस्तोत्र ही मानता हूँ।

यक्ष की बेचैनी से कालिदास अति व्यथित थे तथापि दूत के मार्ग को उन्होंने संक्षिप्त नहीं किया। बल्कि काफ़ी लंबा कर दिया फ़ासले को कवि ने! खेतों, बाग़ों, वनों, प्रांतरों और नदियों-पहाड़ों पर बिलमा-बिलमाकर मेघ को आगे बढ़ने दिया गया है। यात्रा की गति अलस एवं मंद रही है। आगे बढ़कर फिर पीछे मुड़ना, सहज पथ छोड़कर दूर-दूर के शहरों का चक्कर लगाना, जिधर से ही किसी ने इशारा दिया उधर को ही हो लेना... 'ना' करना तो मानो मेघ भाई ने कभी सीखा ही नहीं! दिग्-दिगंत की और देश-देशांतर की निसर्ग रमणीयता से हम इस तरह अभिभूत हो उठते हैं कि आवेग शांत हो जाता है। फिर एक अजीब शिथिलता मन को अपने क़ाबू में कर लेती है। जहाँ चाहता है मेघ ठिठक जाता है। हम भी ठगे-ठगे से वहीं ठमक जाते हैं। आगे बढ़ने का कोई उपाय नहीं! किसकी मजाल कि इस मौजी दूत की मस्तानी रफ़्तार में तनिक भी हेर-फेर कर दे!

रवीन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है—

अज्ञान निखिल के साथ अभिनव परिचय, यही है पूर्व मेघ। इसकी एक विशेषता और है। यह हमारे चारों तरफ़ निभृत परिवेष्टन की रचना करके 'जननांतर सौहृदानि' की याद दिला देता है, अपूर्व सौन्दर्य-लोक के बीच किसी एक चिर-परिचित प्रियतम के लिए मन को उतावला बना देता है।

पूर्व मेघ में विचित्र-विलक्षण के साथ सौन्दर्य का परिचय है। और, उत्तर-मेघ में उसी एक के साथ आनंद का सम्मिलन है। इस भूतल पर विपुल के बीच से उस सुख की यात्रा है और स्वर्ग में एक के बीच से उस अभिसार का परिणाम है।

''नववर्षा के दिन कर्ममुखर संसार में यहाँ रहना किसे नहीं निर्वासन प्रतीत होगा? आषाढ़ी बादल हमें बाहर निकलने को बुलाता है—यही रहा पूर्व-मेघ का प्रयाण। और, यात्रा के अंत में चिर-मिलन के निमित्त हम साफ़ आश्वासन पाते हैं; यही है उत्तर मेघ का संदेश।''[1]

ऐसे भी अनेक विद्वान हैं जिनकी राय में कालिदास का यह काव्य अधूरा है। आचार्य भामह ने *काव्यालंकार* में *मेघदूत* को वाचाशक्तिहीन (गूँगा) बताकर अपनी झल्लाहट जाहिर की है परन्तु अगले ही क्षण वह संभल गए। कोई उपाय नहीं था, कालिदास के साथ उन्हें रियायत करनी पड़ीः यह कहकर आचार्य ने आत्मसंतोष की साँस ली :

''यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्ते।।''[2]

---

1. *विचित्र प्रबन्ध*
2. *काव्यालंकार*-1/4

(यदि यक्ष बेचैनी के मारे पागल की तरह बकता है तो बका करे! छोड़ दो उसे...मेधावी लोग बहुधा अपनी रचनाओं में इस प्रकार का प्रयोग करते हैं।)

वस्तुतः आदि से अंत तक मेघ मौन ही रहा, यक्ष उसे अपनी बातें कहता गया—कहता गया और कहता ही गया।

—आचार्य भामह को तो यह अनुचित एवं अनर्गल (अयुक्तिमत्) लगा, परच मम्मट की दृष्टि से इस प्रकार के कविकर्म लोकोत्तर माने गए। उन्होंने कविता को 'प्रकृति के नियमों से परे' (नियति कृत नियम रहिता) बतलाया है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी आलंकारिक समान रूप से कवि की आत्मा को समझ पाएँ।

यह सत्य है कि प्रस्तुत दूत आदि से अंत तक मूक बना रहता है और 'प्रकृति के नियमों से परे' वाली अपनी भूमिका का निर्वाह भली-भाँति करता है तथापि मेघ-संदेश की काव्यात्मा यहाँ नैसर्गिक चमत्कारों से सर्वथा ओत-प्रोत है। इसी अद्भुत कौशल के कारण कालिदास की यह रचना हज़ारों वर्ष बाद भी आज ताजा ही ताज़ा है और आगे भी ताज़ा रहेगी।

अपने इस दूत के विषय में यक्ष कितना अधिक आस्थावान् है

उसने कहा :

ओ मेघ, तुम चुप हो तो क्या हुआ!
गुमसुम रहने पर भी तो तुम्हीं हो कि
प्रार्थी चातको को पानी दिया करते हो!
मैंने इतना कुछ कहा
और तुमने ध्यानपूर्वक सुन भी लिया
मगर जवाब में एक भी शब्द कहाँ निकला है
तुम्हारे मुँह से?
मैं तो इस मौन को स्वीकार ही समझता हूँ...

विश्वास की यह परिपूर्णता ही मेघ-संदेश की इतिश्री बन गई। अनास्था तो थी नहीं कि प्रतिशब्द आवश्यक होता! शेष कृत्य रह गया था आशीर्वचन। सो, खुले दिल के बेचारे ने आख़िर कहा ही कि :

इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्री—
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

बदले में मेघ से कुछ नहीं कहलवाया, तो मेरी राय में कालिदास ने यह ख़ूब किया! मौनमूक आषाढ़ी बादल मेघदूत की पंक्ति-पंक्ति पर सवार है, उसकी मंदाक्रांता का एक-एक चरण लोक-मानस में थिरक रहा है।

फिर भी कुछ-एक सहृदयजन तड़पते रहे कि बेचारे यक्ष का अंततः क्या हुआ और अलका से मेघ वापस आया कि नहीं!

तरौनी (मिथिला) निवासी महामहोपाध्याय परमेश्वर झा ने *यक्षसमागमकाव्यम्* तैयार किया था। कई कारणों से इस जवाबी मेघदूत का प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। और भी एक-आध विद्वानों ने इस प्रकार की चेष्टा की होगी, किन्तु मुझे उसका पता नहीं है। बीच-बीच में विद्वानों का यह अभिमत सुनता रहा हूँ कि *मेघदूत* एक अधूरी रचना है। कालिदास ने अपने इस काव्य को वियोगांत क्यों छोड़ दिया? दूत को भेजा और वह लौटकर नहीं आया, आख़िर कब तक हिमालय के पठारों में भटकता रहा होगा।

कालिदास होते तो इन प्रश्नों के जवाब में वह ज़रूर ही मुस्करा पड़ते! ऐसा अशोभन भाव-दारिद्र्य उस महाकवि के लिए कल्पना से परे की बात होती!

बता ही चुका हूँ, *मेघदूत* भारत की काव्य-परंपरा में सर्वथा अपूर्व प्रयोग था। काव्य-नायकों के दूत अब तक सचेतन हुआ करते थे और नायिकाओं के पास पहुँच-पहुँचकर लौट भी आते थे। परंतु कालिदास ने अपने काव्यनायक के लिए एक अद्भुत दूत चुना। इस अजीब हरकारे को जाना ही जाना था, लौटने की ज़िम्मेवारी से उसे मुक्ति मिली हुई थी। अचेतन होने पर भी वह निखिल सृष्टि का बंधु था। अविश्वास या अनास्था की तो उसके प्रति कहीं गुंजायश ही नहीं थी।

भारतीय कवि की कल्पना का यह दूत एक असामान्य दूत था। अलका पहुँचकर विरहिणी यक्षप्रिया से अवश्य ही वह मिला होगा। और चार महीने बाद शापमुक्त यक्ष भी अवश्य ही घर पहुँचा होगा।

कौन कहता है कि मेघदूत नहीं लौटा! वह अपनी ड्यूटी पूरी करके लौटा, तत्पश्चात् भारत के घर-घर में और भारतीयों के हृदय-हृदय में समा गया!!

रतिनाथ की चाची : (उपन्यास अंश)

पाँच

रतिनाथ को अपनी माँ याद नहीं है। थोड़ा-सा आभास मात्र है। वह गौर-श्याम थी। उसे दमा का रोग था। ज़्यादातर वह लेटी ही रहती थी। बस यही रति को याद है। माँ का चेहरा कैसा था? कपार छोटा, आँखें न छोटी न बड़ी। नाक नुकीली नहीं थी। माँ का प्रसंग छिड़ते ही एक भयानक दृश्य उस लड़के की आँखों के आगे नाच जाता था। वह नहीं चाहता था कि इस तरह का अप्रिय और भयानक दृश्य उसे याद आए। किन्तु सिर्फ़ आँखें मूँद लेने से ही कोई बात मन में न आए, ऐसा तो कहीं हुआ नहीं।

क्या थी वह बात? यही कि रतिनाथ की बीमार माँ बिस्तरे पर उतान लेटी पड़ी है और जयनाथ रुद्र रूप धरकर बेचारी की छाती पर बैठा है। हाथ में कुल्हाड़ी है और वह अपनी स्त्री की गर्दन रेतता जा रहा है। वह घिघिया रही है, लेकिन कोई भी इस नरमेध में हस्तक्षेप करने वाला वहाँ मौजूद नहीं है...माँ घिघियाती है, साढ़े तीन साल के अबोध रत्ती ने यह दृश्य देखकर दम साध लिया है। घर के कोने में बैठा हुआ वह कनखी से रह-रहकर अपनी माँ और बाप को देख लेता है...

माँ की स्मृति के साथ यह भयानक चित्र रति की आँखों के आगे आ जाता है। पिता के रुद्र स्वभाव के प्रति इस बालक के हृदय में प्रतिहिंसा की आग कभी-कभी सुलग उठती है। तनी भौंहों और चढ़ी आँखों से वह बाप की ओर घूरता है। जिसको चाची से सदैव घुल-घुलकर बातें करते पाया है, उसी का अपनी माँ के प्रति वह नृशंस और रूक्ष व्यवहार रतिनाथ की समझ से परे की बात थी। वह चार साल का था, तभी माँ मरी थी। माँ के बाद चाची ने ही उसकी देखभाल की है। अकारण क्रोधी स्वभाव के इस पिता से चाची ही उसे बचाती आई है। इन बातों से रतिनाथ अपनी चाची के लिए जान तक देने के लिए हाज़िर रहता। पिता के प्रति उसकी भक्ति या श्रद्धा बिलकुल दिखावटी थी। हृदय से वह चाची को ही बाप और माँ सब समझता था।

आँगन में तीन घर थे। दच्छिन, पूरब और उत्तर तरफ़। पच्छिम वाला डीह ख़ाली था। मिट्टी की तीन भीत और बाँस के छप्पर, खर (खढ़) के छाए। पूरब वाला घर चाची का था। दच्छिन और उत्तर वाले घर जयनाथ के थे। कमलनाथ को शुभंकरपुर से न कुछ लेना था, न देना। अपने हिस्से की जायदाद उन्होंने इन्हीं लोगों के सुपुर्द कर दी थी। इसी तरह जयनाथ और उमानाथ की रामगंज वाली जायदाद का उपभोग कमलनाथ करते थे। कमलनाथ पढ़े-लिखे नहीं थे, उनके तीन

लड़के थे, तीनों मूर्ख। यह मूर्खता इन लोगों की चार-पाँच पुश्त की विरासत थी। मिथिला में कहावत है कि मूर्ख का लड़का मूर्ख हो सकता है, मगर पंडित का लड़का पंडित नहीं होगा। परंतु पंडित का लड़का भी पंडित होता है जैसे कि नीलमाधव उपाध्याय का पुत्र जयमाधव झा। नीलमाधव के तीन लड़के थे—जयमाधव, वेणीमाधव और श्रीमाधव। इनमें दो अपठित थे, उनके ज़िम्मे खेतीबाड़ी का काम था। जयमाधव के दो लड़के हुए, सोनमणि और राजमणि। सोनमणि ने व्याकरण का अध्ययन काशी में रहकर किया था। सोनमणि के एकमात्र लड़का हुआ इंद्रमणि। वही मूर्ख भगवान का छत्र-सिंहासन बेचकर खा गया। कमलनाथ आदि श्रीमाधव के प्रपौत्र थे। वैद्यनाथ ने पढ़ना आरंभ किया था, परन्तु ब्याह के बाद उनकी पढ़ाई *शीघ्रबोध* और *मुहूर्त चिन्तामणि* तक ही सीमित रह गई।

आँगन मे पच्छिम वाली निवास-भूमि ख़ाली पड़ी थी। उस पर मौसम के मुताबिक़ भिंडी, बैंगन, मिर्चा वगैरह उपजाया जाता। इससे पूरब तालाब था, दच्छिन बाग़ और बाँस। बाग़ में चार ही छह आम के पेड़ थे। दो पेड़ कटहल के, एक बड़हल का, एक सहिजन का। अड़हुल, इंद्रकमल, करबीर, कनैल, थलकमल, थल-कुमुदिनी, हरसिंगार, बेला—दो-दो, एक-एक झाड़ इन फूलों के थे। जंबीरी नींबू का भी एक बड़ा-सा झाड़ था। तालाब में गेहू, ब्वारी, भाकुर से लेकर सिंगी, माँगुर, इच्चा, पोठी, यानी बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी मछलियाँ थीं। तालाब में इन लोगों का अठारहवाँ हिस्सा पडता था। तीनों भाइयों के बीच नौ बीघा खेत था सो अलग। पुरखों की लगाई हुई अमराई थी, छठवाँ भाग उसमें भी होता था। दस कट्ठा जमीन ऐसी थी, जिसमें खढ़ होता था। घर छवाने के लिए खढ़-वढ़ इन्हें ख़रीदना नहीं पड़ता था। एक परिवार बहिया (खबास) का था, कुल्ली राउत का। कुल्ली राउत का परदादा ठीठर राउत था। उसने सात रुपये में अपने को रतिनाथ के परदादा के हाथ बेच दिया था।

गृहस्थी के उपयुक्त सब कुछ था, लेकिन करने वाला कोई नहीं था। जयनाथ का मन खेती-बाड़ी में लगता तो घर की यही हालत रहती? सारे खेत बटाई पर लगे हुए थे। पूरी उपज घर में नहीं आती थी। साल-साल कुछ खेत बेचना या रेहन रखना पड़ता था। उमानाथ की माँ भला कर ही क्या सकती थी? कोई टोकता तो जयनाथ कह उठते—का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते? यदि भगवान का नाम विश्वंभर है तो फिर चिन्ता किस बात की? खेत जोता ही रह जाएगा यदि बारिश न हो। धन्य भगवान् कि धान उपजता है, कि हमारे-तुम्हारे मुँह से दोनों जून पाँच-पाँच कौर भात जाता है! धन्य भगवान्!

जयनाथ को इस बात का बड़ा अभिमान था कि वह ब्राह्मण हैं। पूजा-पाठ, गप-शप, सैर-सपाटा, बाबा वैद्यनाथ, बाबा विश्वनाथ, दुर्गा-तारा-काली—इनकी

चर्चाओं के अतिरिक्त यदि और कोई वस्तु जयनाथ को प्रिय थी, तो वह थी विजया बनाम भंग भवानी। बम्भोले की बूटी का समय पर सेवन हो, वे इसके पाबंद थे।। जब पहर दिन रहता, तो जयनाथ के नित्य कृत्य का यह महत्त्वपूर्ण अध्याय आरंभ हो जाता। इस सिलसिले में वह मौलवियों का दृष्टांत बड़े ही उल्लासपूर्वक दिया करते—देखो, मौलवी लोग कहीं भी हों, गाड़ी पर, चाहे नाव में, जल में, चाहे थल में, परन्तु नमाज़ का समय जहाँ आया कि अँगोछा बिछाकर चट से घुटने टेक देंगे! आहा हा हा!! कितनी तत्परता है! और, तब ज़ोर-ज़ोर से जयनाथ भंग रगड़ने लगते। उनका दीप्त चेहरा और भी दीप्त हो उठता। बीच-बीच में सोटे को रोककर कुंडी की ओर ग़ौर से देख लेते और बोल उठते—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

औरत मर गई तो लोगों ने कहा था—दूसरी शादी कर लो जयनाथ, नहीं तो घर बर्बाद हो जाएगा। लड़का अभी बहुत छोटा है, उसकी देख-रेख के लिए भी तो कोई चाहिए।

नहीं-नहीं! —जीभ निकालकर और दोनों हाथ दोनों कान पर रखकर जयनाथ तब बोले थे—हरे-हरे! इतना हलका मुझे मत समझिए। जगदंबा की कृपा होगी तो दस वर्ष में रत्ती ही इस योग्य हो जाएगा। मैं तो अब यही प्रयत्न करूँगा कि देवघर या विन्ध्याचल में कोई मारवाड़ी अपने राम के लिए छोटी-सी एक मड़ैया डलवा दे, बस।

सुनने वाले अवाक् रह गए थे।

कुछ साल जयनाथ रत्ती को इधर-उधर टाँगते फिरे। पीछे लड़के ने एक दिन झुँझलाकर कहा—इस तरह मैं पढ़ नहीं सकूँगा, भुट्टू और टुन्नो मेरे सहपाठी थे, अब वह मुझसे एक दर्जा आगे हैं।

उमानाथ की माँ ने भी समझाया। जयनाथ इस बात पर राजी हो गए कि लड़का गाँव में ही रहे और संस्कृत पढ़े।

तभी से रत्ती अपनी चाची के पास रहता आया है।

उमानाथ बूढ़ानाथ पाठशाला (भागलपुर) में रहकर पढ़ रहा था। इससे पहले कुछ दिन वह अपने मामा के पास मोतिहारी में रहा। बुद्धि मंद होने के कारण अपने पाठ उसे कभी याद नहीं हुए। हिसाब में जोड़ना जैसे-तैसे उसको आ गया, लेकिन गुणा और भाग दिमाग़ में घुसता ही नहीं था। घर से आया हुआ घी पिघलाने समय उमानाथ की असावधानी से कड़ाही ही उलट गई। सारा घी राख और चूल्हे की गरम मिट्टी पी गई। मामा ने भांजे को इस अपराध के लिए दो तमाचे लगाए तो भागकर वह भागलपुर चला गया, और अपने एक साथी के पास पाँच साल से वहीं

है। प्रथमा में पिछले साल फ़ेल हुआ था, इस साल पास हो जाने की संभावना है। गीता भाषाटीका बाँचकर सुनाने से एक मारवाड़ी सीधा-सामान देता है। रोज़ मालिश करवाकर पंडितजी कहीं से दो रुपया मासिक और दिलवा देते हैं।

वह घर बहुत कम आता है। एक बार रत्ती से भी उमानाथ ने कहा था भागलपुर चलने के लिए। परन्तु रत्ती ने जवाब दिया—मध्यमा तक तो गाँव में भी पढ़ा जा सकता है, भैया, फिर कहीं क्यों ले जाओगे?

रत्ती का कहना यथार्थ था। पंडितों के इस गाँव में छोटी-बड़ी दो पाठशालाएँ थीं। एक लोअर प्राइमरी स्कूल था। छोटी पाठशाला के अध्यापक का नाम था पंडित योगानंद ठाकुर, व्याकरणाचार्य। प्राइमरी स्कूल के मास्टर थे जयवल्लभलाल दास। वे पुराने थे। हमेशा एक खजूर की छड़ी उनके पास पड़ी रहती थी। लड़कों को पीटते भी ख़ूब थे और पढ़ाते भी ख़ूब थे। बड़ी पाठशाला का नाम था 'श्रीतारिणी संस्कृत टोल' शुभंकरपुर। यह चटसाल बहुत पुरानी थी। बिहार जब बंगाल सरकार की मातहत था, तब संस्कृत पाठशालाएँ टोल कहलाती थीं। वही पुराना नाम अब तक इस पाठशाला का चला आ रहा था। पंडित भी इसके बहुत ही वृद्ध थे, नाम था बबुअन मिश्र। व्याकरण और धर्मशास्त्र में आप बड़े ही निष्णात थे। दूर-दूर से लोग पतिया-प्रायश्चित्त लिखाने आते। आस-पास के इलाक़ों में धार्मिक बातों को लेकर जब वाद-विवाद उपस्थित होते तो फ़ैसला आप पर ही निर्भर करता। मिश्र जी के पास बड़ी उम्र के छात्र ही पढ़ा करते।

जयनाथ की अब यही महत्त्वाकांक्षा थी कि लड़का पढ़-लिखकर अच्छा पंडित बने। रतिनाथ था भी पढ़ने में ख़ूब तेज। अपने साथियों में हमेशा वह बीस ही रहा। उसका मन था हिन्दी-अंग्रेज़ी पढ़ने का, मगर जयनाथ मास्टर को फ़ीस देने में बराबर आनाकानी करते। लोअर प्राइमरी का इम्तिहान देकर पिछले साल रत्ती आया तो अपर प्राइमरी की किताबें बाप से माँगीं। इधर-उधर टोह लेकर जयनाथ को जब पता चला कि चार-पाँच रुपये सिर्फ़ किताबों में ही लग जाएँगे तो तै किया—नहीं, कभी नहीं! यह नहीं हो सकता। प्रातःस्मरणीय नीलमाधव उपाध्याय का वंशधर म्लेच्छ भाषा पढ़ेगा? उस दिन धरती उलट जाएगी और आसमान से अंगारे बरसने लगेंगे! वकील-बालस्टर बनकर प्याज-लहसुन और अंडा नहीं खाना है रत्ती को, उसे तो अपने पूर्वजों की कीर्ति-रक्षा करनी है...बस, एक फटा-कटा *अमरकोष* कहीं से उठा लाए और बेटा के हाथ में उसे थमाते हुए कहा—क्या करना है अंग्रेज़ी पढ़कर, क्रिस्तान बनना है! लो यह अमरकोष, जिस दिन यह कंठस्थ हो जाएगा उस दिन तीनों लोक तुम्हारे लिए हस्तामलक हो जाएँगे। क्या समझते हो, मैंने ज़्यादा पढ़ा है? नहीं-नहीं, बेटा, यही अमरकोष, थोड़ी लघु सिद्धांत (कौमुदी)! बस! फिर भी देखो, लोग मुझे पंडित-पछाड़ कहते हैं।

सिर से पैर तक रतिनाथ ने अपने पिता को देखा और फटा हुआ अमरकोष ले लिया। मन-ही-मन उसे बहुत अफ़सोस हुआ कि प्राइमरी स्कूल के पुराने साथियों से बिछुड़ना पड़ेगा। जयनाथ बोले—दो पन्ने इसमें नहीं हैं, सो मैं पाठशाला जाकर किसी से लिखवा दूँगा। एक दुअन्नी लगेगी जिल्द में, कोई बाज़ार जाएगा तो वह इसे लेता जाएगा और बँधवा लाएगा। और हाँ, "विद्यारंभे गुरुः श्रेष्ठः" मतलब यह कि वृहस्पतिवार को विद्या का आरंभ करना अच्छा है। आज कौन-सा दिन है?

शनीचर।—रत्ती बोला।

जयनाथ ने उँगली पर हिसाब लगाकर कहा—शनि एक, रवि दो, सोम तीन, मंगल चार, बुध पाँच और वृहस्पति छह। आज से छठवें दिन हमारे साथ तुम चलना। योगानंद ठाकुर की पाठशाला में जय गणेश-जय गणेश करके अमरकोष आरंभ कर देना।

सिर झुकाकर रतिनाथ ने पिता का आदेश मंज़ूर किया, परन्तु हृदय उसका रो रहा था।

रत्ती अपने बाप से बहुत डरता था। ज़रा-ज़रा-सी बात पर जयनाथ उसे पीटते थे। पिटाई में वह इस बात का ख़याल नहीं रखते कि दस-ग्यारह साल का बच्चा है, कोमल शरीर और लचीली हड्डियों में चोट ज़्यादा लगती होगी। छड़ी, कलछी, चैला, लोढ़ी जो भी हाथ में पड़ जाता उसी से उसे पीटते लगते। कभी-कभी खंभे में कसकर बाँध देते। एक दफ़ा गर्दन पकड़कर ऊपर उठा लिया और धरती पर पटक दिया। ये घोर दंड उसे किन अपराधों के कारण सहने पड़ते? बहुत ही मामूली अपराध हुआ करते। खाते समय जमीन पर ज़रा-सा पानी गिर गया। थाली में थोड़ी दाल बाक़ी रह गई। पैसा या अधन्नी चुरा ली। तालाब में नहाने गए तो हाथ-पैर पटककर ज़रा तैर लेना चाहा। पेड़ पर चढ़कर अमरूद खाते समय नाख़ून-भर खरोंच लग गई। लुक-छिपकर कहीं तमाशा देखने निकल गए। इसी क़िस्म के अपराध हुआ करते थे। पिता के भय से रतिनाथ जी-भर कभी दौड़ नहीं लगा सकता था। खिलखिलाकर ख़ूब हँसना उसके लिए स्वप्न की वस्तु थी। पेड़ पर चढ़ना कल्पना मात्र थी।

चाची उसे बहुत बचाती थी। इसी से उसका रोम-रोम चाची के प्रति कृतज्ञ था। किसी के मुँह से चाची की शिकायत सुनता तो ग़ुस्से के मारे उसके छोटे-छोटे नथने फड़कने लगते।

और, अभी चाची नहीं थी। जयनाथ ने एक दिन कहा था—उमानाथ की माँ बीस-पच्चीस रोज़ में लौटेंगी। यह अर्सा रत्ती के लिए पहाड़ था। बहुत ही बच-बचकर उसे चलना था। रसोई तो, ख़ैर जयनाथ ख़ुद भी ख़ुशी-ख़ुशी कर लेते

थे। घर के और कामों में भरसक रत्ती भी हाथ बँटाता। बचा हुआ समय वह पढ़ाई में लगाता। इंद्रमणि के घर में रामायण का एक बड़ा-सा पोथा था— तुलसीदासी। रत्ती ने निश्चय किया कि पाँचों दिन वह रामायण बाँचने में लगा देगा। डरते हुए उसने बाप से अपनी यह इच्छा प्रकट की। वे राज़ी हो गए।

इंद्रमणि स्वयं तो अब थे नहीं। तीनों लड़कियाँ बाप के वैभव की मालकिन थीं। चौथी लड़की, चूँकि बिकौआ की औरत नहीं थी, ससुराल में ही रहती थी, उसका पति धनी था। ससुर की जायदाद में हिस्सा बँटाने की उग्र भले आदमी की कभी इच्छा नहीं हुई। ये तीनों लड़कियाँ भी एक-दूसरे से अलग हो गई थीं। दस-दस बीघा खेत एक-एक के हिस्से पड़ा था। तीन में से एक निःसन्तान थी। एक के एक लड़का और दूसरे के दो लड़कियाँ थीं। तीनों नाममात्र की सधवा थीं। पाँच दिन में रत्ती अयोध्या कांड के अंत तक पहुँच गया।

वृहस्पति के दिन रतिनाथ ने पाठशाला में जाकर अमरकोष आरंभ किया। जयनाथ ने अपने बटुए से एडवर्ड छाप का एक रुपया निकाला और लड़के के हाथ पर धर दिया। कहा—गिरो पंडित जी के पैरों पर, प्रणाम करो।

रत्ती ने रुपया गुरुजी के पैर पर रख दिया, फिर प्रणाम किया। गद्गद् होकर पंडितजी ने आशीर्वाद दिया—"आयुष्मान् भव! विद्यावान् भव!"

बलचनमा : (उपन्यास अंश)

एक

चौदह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया। परिवार में माँ, दादी और छोटी बहन थी। नौ हाथ लंबा, सात हाथ चौड़ा घर था—दो छप्परों वाला। सामने छोटा-सा आँगन था। बाईं ओर आठ-दस धूर बाड़ी थी। उसमें साल के बारहों महीने कुछ-न-कुछ उपजा लिया जाता। पिछवाड़े गिरहथ का इनारा था, पक्की जगत वाला। सामने इन्हीं के खेत फैले पड़े थे। दाईं ओर कुछ हटकर उन्हीं लोगों का पोखरा पड़ता था।

कहना न होगा कि वह थोड़ी-सी ज़मीन, जिस पर हम बसे थे, गिरहथ लोगों की ही थी। अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है, वह ख़ूब साफ़ नहीं है...मालिक के दरवाज़े पर मेरे बाप को एक खंभेली के सहारे कसकर बाँध दिया गया है। जाँघ, चूतर, पीठ और बाँह—सभी पर बाँस की हरी कैली के निशान उभर आए हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है और आँखों से बहते आँसुओं के टंघार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए हैं...चेहरा काला पड़ गया है। होंठ सूख रहे हैं। अलग कुछ दूर छोटी चौकी पर यमराज की भाँति मझले मालिक बैठे हुए हैं। दाएँ हाथ की उँगलियाँ रह-रह कर मूँछों पर फिर जाती हैं...उनकी वह लाल और गहरी आँख कितनी डरावनी है, बाप रे! मेरी दादी काँपते हाथों मालिक के पैर छाने हुए हैं। उसके मुँह से बेचैनी में बस यही एक बात निकल रही है कि दुहाई सरकार की, मर जाएगा ललुआ! छोड़ दीजिए सरकार! अब कभी ऐसा न करेगा! दुहाई मालिक की। दुहाई माँ, बाप की...और माँ रास्ते पर बैठी हाय-हाय करके रो रही है, और मैं भी रो रहा हूँ। मेरी छोटी बहन की तो डर के मारे हिचकी बँध गई है।

सुना है मेरा बाप दोपहर के समय बाग़ से दो किसुनभोग तोड़ लाया था। किसुनभोग कच्चा भी खाने में ख़ूब स्वादिष्ट होता है। ठीक वैसा ही जैसा भिगोया हुआ चावल। तोड़ते तो किसी ने देखा नहीं, मगर पुराने बखारों की ओट में बैठे-बैठे वह जब आम के छिलके उतार रहा था तो किसी ने देखा और जाकर चुग़ली कर दी। फिर क्या था, मँझले मालिक आग-बबूला हो गए और...

बाबू जब मरा तो दादी को चौठइया बुखार लग रहा था। कुछ मालिक से लेकर, कुछ इधर-उधर से जैसे-तैसे किरिया-करम हुआ और मेरे गले की उतरी टूटी। उसके बाद दादी और माँ की राय हुई कि मैं मालिकों की किसी पट्टी में चरवाहे का काम करूँ। दादी ने मना किया था—अभी खाने-खेलने के दिन हैं, इसी समय

जोत दोगी तो कलेजा सूख जाएगा, इस पर माँ बोली थी कि अभी से पेट की फिकिर नहीं करेगा तो बहतरा हो जाएगा...

कुछ ही दिन बाद छोटे मालिक के यहाँ भैंस चराने का काम मिला है। भगवान! कितनी कठिनाई से और कितना गिड़गिड़ाने पर छोटी मलिकाइन मुझे रखने को राज़ी हुईं! उनके यहाँ जब हम पहुँचे तो अपना मुलायम और गुलाबी हाथ चमकाकर दादी से उन्होंने कहा—अरे, यह तो मेरे बखारों को खुक्ख कर देगा। डेढ़ सेर इस जून, डेढ़ सेर उस जून। छोकड़े का पेट तो देखो, कमर से लेकर गले तक मानो नखिया है। कैसा बेडौल कितना भयानक है, मइया री मइया!

मेरी ओर सिनेह-भरी निगाहें डालती हुई दादी ने कहा—नहीं मलिकाइन, ऐसी बात न कहिए। मेरा बालचन मुट्ठी भर से अधिक भात नहीं खाता। कोदो, मडुआ, मकई, साँवाँ, काँवन चाहे जिसकी भी रोटी दे दो, ख़ुशी-ख़ुशी खा लेगा और दो चुल्लू-भर पानी पीकर संतोख की साँस लेता उठ जाएगा, बड़ा ही सुभर है, तनिक भी नहीं खलेगा, मलिकाइन!

मेरी कमर से फटी-सी मैली-सी बिस्ठी झूल रही थी। बिस्ठी न तो लँगोटी है न कच्छा, कपड़े के लीरे को अगर तुम कौपीन की भाँति पहन लो तो वही हमारे यहाँ बिस्ठी कहलाएगी। मलिकाइन ने बिस्ठी की ओर इशारा करके कहा—कपड़ा-वपड़ा हमसे पार नहीं लगेगा। यह सुनकर दादी ने दाँत निपोड़ दिए। चेहरे की झुर्रियों और लकीरों में बल पड़ गया। दोनों हाथ जोड़कर वह गिड़गिड़ाई—क्या कमी है, मलिकाइन आप लोगों के यहाँ? आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम ग़रीब जनमते ही बच्चों को नमक न चटा दें! अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन-फारन पहनाकर ही तो हमारा पर्तपाल करती हैं...

छोटी मलिकाइन का चेहरा खिल गया, उनके दाँत दनुफ के फूल जैसे झकझक कर रहे थे। ओठों की लाली बड़ी भली लगती थी। मेरी दादी पर अहसान का मनों भार लादती हुई वह बोली—खाना-पीना, लत्ता-कपड़ा और ऊपर से दो आना महीना! कौन देगा इतना? अभी सारा काम इसे सिखाना पड़ेगा। समझाते-समझाते दिमाग का गूदा चट हो जाएगा।

दादी ने मलिकाइन के पैर पकड़ लिए—आज से आप ही इस निभागे की माँ-बाप हुई गिरहथनी! आपका जूठन खाकर इसका भाग चमकेगा...

अगले दिन से मैं काम करने लगा। बतला ही चुका हूँ, चौदह साल की उमर थी। यों ख़ास काम मेरा भैंस चराना था, फिर भी और कई काम थे जैसे कि बच्चे को खेलाना, पानी भरना, बाहर बैठक में झाड़ू लगाना, दुकान से नून, तेल, मसाला लाना और मलिकाइन के पैर चाँपने...

चौधरी लोगों का यह घराना किसी ज़माने बहुत ही भरापूरा और अकबाली था।

अब इनकी जमीनदारी तो नहीं थी, लेकिन रोब-दाब, रहन-सहन, चाल-ढाल और बातचीत से हुकूमत की बड़ी बिकट बू आती थी। चार पट्टियों में बँटे थे लोग। अलग-अलग हवेलियाँ थीं। बची-खुची ज़मीन-जायदाद बँटी हुई थी। गाछी, क़लमबाग़, बाँस, पोखर, खढ़ोर और चरागाह—यह सब साझा चला आ रहा था। बीजू या शरही (देशी) आमों का बाग़ गाछी कहलाता है। बीस-बीघा में फैले हुए थे उनके बाग़, हजार के लगभग पेड़ होंगे। क़लमबाग़ भी काफ़ी बड़ा था। बाँस भी तीन सौ बीट थे—तीन बीघे में फैले हुए। पोखर उनके तीन थे। खढ़ोर इतना बड़ा था कि सभी पट्टीदारों को अपने मकान छवाने लायक़ खड़ उसी से निकल आता। चरागाह थी तो बड़ी, लेकिन ऊसर हो गई थी। इसके अलावा सीसम, महुआ, तूत, इमली, जीमड़ जैसे तरह-तरह के सैकड़ों पेड़ों से भरा एक जंगल था।

पहले दिन सुबह-सुबह भैंस खोलकर जब मैं चराने ले चला तो अभी काफ़ी सबेरा था। मुझे डर लगा। दादी के मुँह से भूत-प्रेत की कहानियाँ रोज़ ही सुनी थीं। गाँव के बाहर का हर एक बूढ़ा पीपल या बरगद मेरे लिये भूतों का रैन-बसेरा था। भैंस सीधी-सादी थी, नाकों में नकेल थी। नकेल की रस्सी को हाथ में लपेटकर भैंस की पीठ पर मैं बैठ गया और वह अपनी इच्छा से पूरब की ओर चल पड़ी। जेठ का महीना था। उस साल आम नहीं फरे थे। इसलिये चरवाहे बाग़ों में ले जाकर अपनी भैंसों को छोड़ देते थे और ख़ुद भैंस की पीठ पर पड़े-पड़े सुबह की मीठी नींद के झोंके लेते रहते। उन्हें इस तरह सोते देखकर मुझे कई बार डाह हुई थी, पर आज तो मैं ख़ुद भैंस की पीठ पर सवार था।

छोटे मालिक किसी राजा के यहाँ मनेजरी करते थे। परिवार को कभी उन्होंने साथ नहीं रक्खा। मलिकाइन बहुत बड़े घर की बेटी थीं। बिना दूध-दही का खाना उनके कहने के मुताबिक़ बालू-गोबर निगलना था। दो सौ रुपये लगाकर गुजराती नसल की यह भैंस उन्होंने मालिक से ख़रीदवाई। सेवा नहीं होने से भैंस बड़ी दुबली हो रही थी। पड़िया मर जाने से बिसुक गई थी। पुट्ठों का हाड़ और रीढ़ निकल आई थी। पुराना चरवाहा भागकर कटिहार चला गया था, चटकल में। फिर उन्होंने एक जवान दुसाध को इस काम के लिये रक्खा। उसकी एक ग्वालिन से साँठ-गाँठ हो गई तो मझले मालिक को इस बात का पता लग गया। पकड़े जाने पर उन्होंने उसे जूतों से इतना पीटा की आधा पहर तक बेचारा आहऊह भी न कर सका, भाग तो गया ही...

अब भैंस मेरे सुपुर्द थी। पहले दिन मालिक के बाग़ में ही मैं उसे चरा ले आया। दूसरे दिन से तो वह मुझे पहचानने लगी। अभी तक माँ, दादी और रेबनी (छोटी बहन) से ही हिला-मिला हुआ था। बाबू चल ही बसा था। उन चारों के बाद वह

भैंस ही थी जिसकी गीली आँख और गरम साँस मुझ पर अपना असर डाल सकी। सुबह-सुबह मैं रोज़ उसे चरा लाता। पहर दिन उठने पर मलिकाइन मुझे कलेवा देतीं, मडुआ की लाल रोटी। नोन और सरसों के तेल के साथ में जब वह रोटी खा लेता, तो छोटा बच्चा मेरे ज़िम्मे कर दिया जाता। यह लड़का मानो रोना ही जानता था। घड़ी-भर में ही उसकी रुलाई से मेरा माथा दुखने लगता। चुप करने की सारी कोशिशें बेकार जातीं और तब खस की कूची से बाल झारती हुई मलिकाइन सिर नीचा किए ही डपटकर मुझे कहतीं—कंधे के सहारे बच्चे को ले ले और घूमघाम, माँ ने तुझे ठूँस-ठूँस कर खाना तो खूब सिखला दिया है, मगर फूल-सा हलका बच्चा भी तुझसे नहीं सँभलता...कोढ़िया!

गालियाँ सुनकर पहले दो-चार दिन तो मुझे थोड़ी बहुत तकलीफ़ हुई पर बाद में कान ख़ूब पक्के हो गए। गदहा, सुअर, कुत्ता, उल्लू...क्या नहीं कहती थीं वह मुझे? उनका गुस्सा चुपचाप सह जाना मुझे सीखना पड़ा। एक बार दोपहर को घास लाने में ज़रा देर हो गई। बैसाख जेठ की जलती धरती हो तो घास छीलने में बड़ी कठिनाई होती है। पचीसों जगह खुरपी चला-चलाकर तंग आ जाओगे फिर भी टोकरी-भर घास नहीं होगी। लेकिन जो देवी कई-कई डेवढ़ियों वाली हवेलियों के भीतर छाँह में आराम से बैठी हुई हों, उन्हें अपनी यह दिक़्क़त तुम समझा पाओगे भैया? उनके लिए सारी धरती हरी-हरी, नरम-नरम दूबों में भरी होती है। सो उस रोज़ घास लेकर जब मैं ज़रा देर से पहुँचा तो मलिकाइन हुहुआ उठीं—मर क्यों न गया? बड़े नवाब के नाती हुए हैं। कहीं बैठकर बाप के साथ कौड़ी खेल रहा होगा और देर हो गई तो घास नहीं मिलती है, खुरपी भोथी है, बेंट ढीला पड़ गया था...पचास बहाने बनाता है। कलमुँहा! इतना बक चुकने पर जब उन्हें संतोष न हुआ तो झाड़ू उठा लाईं और मेरी पीठ पर कई बार झटझट बरसा दिए। मैं तिलमिलाकर वहीं बैठ गया—बाप-बाप कर उठा।

वह जब बहुत ख़ुश होतीं तो सूखा या बासी पकवान, सड़ा आम, फटे दूध का बदबूदार छेना या जूठन की बची हुई कड़वी तरकारी देती हुई मुझे कहतीं—बलचनमा, ऐसी अच्छी चीज़ तेरे बाप-दादे ने भी नहीं खाई होगी।

किसी चीज़ की कमी नहीं थी। मालिक ढाई सौ रुपया महीना कमाते थे। मलिकाइन के मायके से भी महीने में दो-एक भार आ ही जाता था। यों तो भार का मतलब है बोझा, मगर सौगात में एक गाँव से दूसरे गाँव भेजे जाने वाले ये भार मामूली ढंग के नहीं होते। बाँस की लचकदार बहँगी कंधे पर होती है, उसके दोनों छोर से लटकते छिक्कों पर दही का छाँछ, चिवड़ा से भरा चँगेरा, केले की घौद, पकवानों या मिठाइयों से भरी डलियाँ, धोती, साड़ी, लहठी ऐसा ही और

कुछ भी डाल दिया जाता है; बस यही भार कहलाता है। इसको लेकर चलने वाले भरिया कहलाते हैं। तुम इन्हें बोझ ढोनेवाले मजूर समझ लो। मलिकाइन के मायके से कभी-कभी ऐसा ही भार आता था। सौगात की सारी चीज़ों को वह टोला-पड़ोस के छोटे-बड़े घरों में बायना के तौर पर बँटवा देती थीं। हाँ, चावल, चिवड़ा, साड़ी, लहठी जैसी वस्तुएँ बायने में नहीं दी जातीं।

दही जब बहुत खट्टा हो जाता था, उससे बदबू आने लगती थी और वह उनके अपने या किसी पड़ोसी के खाने लायक़ न रह जाता तब मुझे मिलता। मैं उस दही को ख़ुशी-ख़ुशी खा लेता। याद आता है कि एक बार आस्ती खट्टा और बदबूदार रहने से उस दही को नहीं खा पाया तो मलिकाइन ने सज़ा दी थी—अगले दिन खाना नहीं मिला था।

भैंस चराना मुझे ख़ूब पसन्द था। गाँव के बाहर मेरी ही उमर के जब और-और चरवाहे इकट्ठा होते तो हम अपना-अपना दुःख भूलकर खेलते। कभी कौड़ी उछालते, कभी बकरी की सूखी मींगणियों से सतधरा खेलते, कभी कंकड़ों से कौवाठुट्टी, मोगल-पठान या बाघ-गोटी का भी खेल चलता। हमारी भैंसें दूब-भरे मैदान या चरागाह में चरती होतीं और हम अपने मालिकों की बुरी-भली कहते-सुनते और खेला करते। बड़े मालिक का चरवाहा बूढ़ा था, सबूरी मंडल। ठिंगने कद का बूढ़ा भानुक। कान दोनों बुच थे। कपार छोटा। आँखें चमकदार मगर धँसी हुई। बाल सन जैसे सफ़ेद। अपने पशु की सेवा वह बड़ी ही लगन से करता। हमें अपने बीते दिनों की कहानियाँ सुनाते कभी न थकता था। खेल में मशगूल पाकर बहुधा हमको वह फटकारता भी।

और जो कुछ हो, सबूरी काका की दो बातें मैं अभी तक नहीं भूल पाया। एक तो यह कि अपनी भैंस को वह शायद ही पीटता और दूसरी यह कि सगी संतान की तरह उनकी सेवा। उसकी भैंस की आँखों में कभी किसी ने कीचड़ नहीं देखा। हर तीसरे दिन वह उसे तालाब में ले जाकर नहलाता, मुलायम दूबों की नूड़ी से भैंस की पीठ, पेट, पुट्ठे, जाँघ, गर्दन, माथ और पैर को भली-भाँति रगड़ता। इस तरह अपनी भैंस को वह साफ़-सुथरी रखता...हम तो ख़ैर थोड़ी ही उमर के थे, जिनकी उमर बड़ी थी उन चरवाहों से भी अपनी भैंसों की ऐसी सेवा पार नहीं लगती।

एक दिन मैं दोपहर के वक़्त बड़े मालिक के बथान पर गया। उनके सोलह बैल थे और चार भैंसें थीं। चारवाहे तीन थे। सबूरी के ज़िम्मे दो भैंसें थीं। वहीं अलग एक झोंपड़ी में रहते थे। जिस समय मैं उनके पास गया तब वह हुक़्क़ा गुड़गुड़ा रहे थे। नारियल की पेंदी वाला इसी तरह का हुक़्क़ा मेरा भी बाप पीता था। मैं जाकर

उनके पास बैठ गया। आँखें उठाकर अपने नज़दीक बैठने को उन्होंने इशारा किया। थोड़ी देर बाद बड़े प्रेम से उन्होंने पूछा—तुम्हारी भैंस का यह सातवाँ महीना चल रहा है न?

हाँ—मैंने कहा—बाबा, यह तुम कैसे जान गए?

इस पर पतली मूँछों वाले उनके होंठ खिल उठे। सच, ज़ोर से ठहाका लगाते उन्हें कभी नहीं देखा। बहुत हुआ तो खिलखिला पड़े, और तब बिना दाँत के उनके वे लाल मसूड़े बड़े ही सुंदर लगते। हुक़्क़े को खूँटे से टिकाकर और चिलम को उलटा कर मंडल ने कहा—ज़िन्दगी भर तो भैंस ही चराई है बलचनमा! मैं जब ननिहाल से भागकर यहाँ आया तो बाईस साल का था। तेरा बाप लालचंद तेरी ही उमर का रहा होगा...लच्छन से मालूम होता है कि तेरी भैंस के पेट में सात महीने की पड़िया है।

यह सुनकर मैं दंग रह गया। वह उठकर भैंस के पास जा बैठे। थनों से ऊपर वाली उस की नसों को सहलाते हुए काका बोले—ख़ाली बखत में इधर-उधर भटकना ठीक नहीं। चरवाहे को चाहिए कि अपने पशु के रोएँ-रोएँ को ग़ौर से देखे। लापरवाही से कई तरह के कीड़े पड़ जाते हैं—अठौड़ी, किलनी, जूँ, चिल्लड़...कभी-कभी कुकुरमाछी भी इन्हें तंग करती है। इन बातों का ख़याल चरवाहा न रक्खेगा तो कौन रक्खेगा। इसके अलावा उनके रहने की जगह को साफ़ और सूखा रखना बहुत ज़रूरी है...आजकल के चरवाहे हराम का खाते हैं, तभी तो उनका जानवर कलपता रहता है।

उस दिन मुझे ऐसा लगा कि सबूरी काका भैंस की सेवा करने में बड़े ही होशियार हैं, इनके पास घड़ी-आध घड़ी रोज़ आकर बैठूँ तो बहुत-सी बातें यों ही समझ में आ जाएँगी। और तब से जब कभी मुझे मौका मिलता तभी जाकर सबूरी मंडल के पास जा बैठता। हम एक बिरादरी के नहीं थे। वह थे धानुक मैं ठहरा ग्वाला। वह थे सबूरी मंडल मैं था बालचंद राउत, फिर भी दादा-परदादा की तरह वह मुझे प्यार करते। कहीं कोई खाने-वाने की अच्छी चीज़ मिल जाती तो उसमें से थोड़ा कुछ मेरे लिये सँजोकर रखते। मुझसे और तो कुछ नहीं होता मगर रात को कभी-कभी जाकर पैर चाँप आता था।

मालिक की नौकरी ऐसी थी कि छुट्टी का नाम नहीं। तब भी छठे-छमाहे आ वह ज़रूर जाते। दो-चार दिन रहकर वह बिदा होते तो इसटीसन तक सामान मुझे ही पहुँचाना पड़ता। चमड़े का छोटा-सा सूटकेस, होल्डाल में बँधा हुआ बिस्तरा। यह दोनों सिर पर और हाथ में टिफ़िन का डिब्बा। रामपुर से मधुबनी ढाई कोस पक्का पड़ता है। उठते-बैठते किसी तरह मैं पहुँचता। गरदन टूट जाती। पसीने

से सारी देह तर हो होकर सूख चुकी होती। और इतने पर भी जब मालिक की गाड़ी प्लेटफारम छोड़कर खिसकने लगती तो दो पैसा मेरी ओर फेंककर वह कहते—ले, मूढ़ी या चना ख़रीद लेना, फाँकते-फाँकते घंटे-भर में घर पहुँच जाएगा।

मन करता कि उन पैसों को वहीं प्लेटफारम पर ही छोड़कर चल दूँ! आख़िर मैं वह पैसा उठा लेता। पैसे के चने और पैसे की बीड़ी। किसी तरह घर पहुँचता और माँ के पास धम्म से जा गिरता।

माँ मेरे बाप की ब्याही औरत नहीं थी। पहले ब्याह की औरत जब मर गई तो बाप कुछ रोज़ कलकत्ता रह आया था। बाद में जिस विधवा से समंध हुआ वही थी मेरी माँ। दादी को भैंस चराने का मेरा यह काम पसंद नहीं था। बहन थी छोटी, उसकी राय का कोई सवाल ही नहीं। हमारे पास कुल सात कट्ठा जमीन थी। मझले मालिक सौ कसाई के एक कसाई थे। बाबू के मरने पर बारह रुपये उन्होंने माँ को क़र्ज़ दिये थे। बदले में सादे काग़ज़ पर अँगूठे का निशान ले लिया था। सूद देते-देते हम थक गए, मूर ज्यों-का-त्यों खड़ा था। छोटी मलिकाइन दुअन्नी के हिसाब से साल-भर का दरमहा डेढ़ रुपैया देती थी, उतने से क्या होता...

जाड़े की एक-एक रात हमारे लिये पर्लय की डुगडुगी बजाती आती थी। गर्मी के दिन जैसे-तैसे कट जाते, लेकिन जाड़ा से निबटना बड़ा ही मुश्किल होता। गुदड़ी-कथड़ी भी ओढ़ने को अगर काफ़ी न हो तो पूस-माघ की ठंडी रात यमराज की बहन साबित होती है। जलावन के लिये लकड़ी भला हम लाते ही कहाँ से, हाँ, दादी ने दो बकरियाँ पाल रक्खी थीं, उनकी सूखी मींगणियाँ ताप-तापकर हम रात काटते। मालिकों के पास न लकड़ी की कमी, न घासफूस की। गोइठा, गोरहा भी उन्हीं के पास होता जिनके मालजाल हों। माल-जाल के नाम पर हमारे यहाँ दो बकरियाँ थीं। आम, लताम, जामुन, कटहर, बेर, कुसियार, ककड़ी, तरबूजा और खरबूजा...हमारा पेट भरने में इनसे काफी मदद मिलती। दादी अँधेरे में निकल जाती और मालिक के बाग़ से आम ले आती। गन्ना और दूसरे मौसमी फलों का यही हाल था। छोटी चीज़ें चुराने में मेरी दादी कमाल करती थी। वह कभी नहीं पकड़ी गई। माँ से यह काम नहीं होता था।

गाँव के बाहर जाड़े के दिनों में हर साल मालिकों का कोल्हू गड़ता। उनके यहाँ गन्ने की खेती कम नहीं होती। मैं अपनी छोटी बहन को लेकर रात को कोल्हूआड़ में ही बिताया करता। गन्ना खा-खाकर पेट भर लेना और भट्ठी की आँच से गरमाकर सो जाना। डेढ़-दो महीने हर साल जाड़ों में हम ऐसा ही करते।

मझले मालिक की निगाह हमारे थोड़े से खेतों पर थी जिनमें मडुवा उपजाकर तीन-चार महीने का ख़र्च हम निकालते आए थे। उन्होंने सोचा—लौंडा अभी छोटा

है। ज़माने का रंग-ढंग अच्छा नहीं। कमाने लायक़ होने पर कटिहार या कलकत्ता कहीं-न-कहीं ज़रूर भाग जायगा, फिर कोई इसका क्या कर लेगा! अभी तो ख़ैर इस औरतिया का अँगूठा निशान अपने क़ब्ज़े में है...

सोच-समझकर एक दिन मझले मालिक ने हम तीनों को बुलाया। वहाँ गाँव के बूढ़े पंडित भी बैठे थे। आधा पीतल और आधा लोहे से बना सरौता मालिक के हाथ में था। वह सुपारी कतर रहे थे। कुछ बारीक़ कतरा पंडित जी की ओर बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—ललचनमा जब तक जिया, जी जान से मेरी सेवा उसने की और इनको तो देखिए—

पंडित जी ने सुपारी फॉक लिया। फिर टूटे डंठल वाले चश्मे को नाक पर से हटाकर कपार पर चढ़ाया। मेरी ओर तनिक देर ग़ौर से ताकते रहे। तब जाकर बोले—जसोधर बाबू, छोकड़े के रोआँ-रोआँ से नमकहरामी टपकती है। देखो न कैसे मुलुर-मुलुर ताकता है।

इस पर मझले मालिक ने कहा—हाँ गुरु, बड़ा ही पाज़ी है। कभी पकड़ में नहीं आता। पाहुना आए थे, उनका नौकर बीमार पड़ गया। मैंने इस ससुर को कहला भेजा कि आकर मेहमान की मालिश कर जाय। साला आया ही नहीं...

मैं कुछ नहीं बोला। मेरी ओर से दादी बोली।

उसने कहा—कल का बच्चा है बाबू? दिनभर का थका-माँदा, चूर-चूर, रात को बेसुध होकर सो जाता है।

चुप रह कुतिया—मालिक गुर्राए। पंडित जी ने सिर हिलाया और गुनगुना उठे—रांड एडं पवित्रं हूः!

लेकिन मझले मालिक को अपना मतलब गाँठना था। अपनी बोली में मिठास घोलकर मेरी माँ से उन्होंने कहना शुरू किया—बलचनमा की माँ! तुम्हें तो याद होगा, बेर-बखत में हम कभी पीछे नहीं रहे। दो की ज़रूरत पड़ी तो तुम्हें चार दिए, पाँच की ज़रूरत पड़ी तो तुम्हें दस दिए। जैसे अपने परिवार के प्राणी हैं तुम लोगों को हमने वैसा ही समझा। हाँ, काम-काज की भीड़ रहती है। ख़्याल नहीं रहता है। कभी-कभी तुम्हारी बात पर ध्यान नहीं भी जाता है, मानता हूँ, मगर महतो और बहिया आख़िर बाप-बेटे ही तो होते हैं। दूसरा काम नहीं आता है। कान भरने वालों की कमी नहीं है...इतना कहकर मालिक ने पलकों से इशारा करके मुझे अपने नज़दीक बुला लिया। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए वह बोले—तुम्हारे दिन, बलचनमा की माँ, अब लौटने ही वाले हैं। बड़ा कमासुत निकलेगा बेटा। अपने बाप का नाम उजागर करेगा। भगवान करेंगे, तुम्हारे सारे मनोरथ पूरे होंगे। बाक़ी, थोड़ा दिन और धीरज से काम लो...

माँ की समझ में नहीं आ रहा था कि इतना कुछ कहने का आख़िर मतलब क्या है। भीतर-ही-भीतर काँप उठी। दादी चुपचाप बैठी थी। पंडित जी तंबाकू चुना रहे थे। मैं खम्हेली के सहारे, वहीं मालिक के नज़दीक खड़ा था।

पंडित जी बोले—जो बहिया, महतो को प्रसन्न रखता है उसके लिए स्वर्ग में अमृत की धार बहती है। अरे जसोधर बाबू, मिट्टी का ठहरा शरीर, गिरता है तो खाक़ हो जाता है। समझदार वह है जो इस चोले को पाकर कुछ कर जाता है...मान लीजिए आपको बित्ता-आध बित्ता ज़मीन की ज़रूरत है और बलचनमा की माँ उतनी ज़मीन आपको दे देती है तो होता है क्या?

हम सभी ने भक्कू की भाँति पंडित जी की ओर देखा। मालिक की भी नज़र उन्हीं पर थी। वह सुर्ती खा चुके थे। लड़खड़ाती जीभ से एक-एक शब्द पर डबल ज़ोर देते हुए उन्होंने कहा—होता है क्या?

इस पर मालिक से चुप नहीं रहा गया। वह बोले—अरे होगा क्या? आपस की बात है। एक का भात दूसरे की दाल, एक की रोटी दूसरे की भाजी। मतलब यह है कि किसी तरह काम चलना चाहिए।

तब मालिक ने एक बार मुझे, एक बार माँ की ओर, एक बार दादी को ग़ौर से देखा। हमारे चेहरे पर कोई ख़ास भाव नहीं था। सूखे कोहड़ों के लिए क्या बसंत, क्या सरदी! हमारे अंदर का अंदाज़ा पा चुकने पर मझले मालिक ने कहा—कल बुधवार है, परसों बृहस्पति। बलचनमा की माँ, जरा खजौली चलना होगा। तुम्हारे घर से पश्चिम हमारा जो भिट्टा खेत पड़ता है उसमें केरबी आम के कलम लगाना चाहता हूँ, तुम्हारी कुछ ज़मीन वहीं पड़ती है। वह अगर दे दो तो खेत बिलकुल चौकोर हो जाएगा।

माँ कुछ नहीं बोली। दादी भी चुप थी। मैं कुछ ज़्यादा समझ ही नहीं सकता था। सुरती थूककर बूढ़े पंडित जी ने बड़ी-बड़ी आँखों को नचाया। फिर मेरी ओर मुड़ करके बोले—क्या होता है उसमें? कभी चार सेर मडुआ, कभी सेर-भर सुथनी, कभी पाव-भर अल्हुआ...मैंने तो तुम्हारी ऊसर टुकड़ी में दूब भी उगते नहीं देखा।

अब दादी से न रहा गया। लपककर उसने मालिक के दोनों पैर पकड़ लिए। भर्राई आवाज़ में कहने लगी—नहीं सरकार, ललुआ की कमाई का निशान है वह खेत। उसे न छीनें। क्या कमी है आपको...

मालिक ने 'हट-हट' कहते हुए अपने पैरों को हटा लिया। कुछ देर तक घूर कर वह हमारी ओर देखते रहे। फिर बोले—दो कट्ठा के बदले चार कट्ठा देने को तैयार हूँ, धनहर खेत। तुझसे सपरेगा?

इस पर मेरी माँ ने मुँह खोला—मालिक, यह ज़मीन घर के नगीच पड़ती है।

मकई या मडुवा जो चाहे छींट दें, बो दें, कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। निगाह के सामने रहने से अगोरने का इंतजाम अलग से नहीं करना पड़ता। और, मालिक धान का खेत गाँव के बाहर ज़रा दूर पड़ता है। बलचनमा अभी बच्चा है। कौन सँभालेगा?

मालिक उठे और छप्पर की ओलती से लटकते तिनके को खोट लिया और फिर बैठ गए। खढ़ की उसी टुकड़ी से कान खोदते-खोदते कहा—अरे, मैं सब कर दूँगा। जहाँ इतनी खेती-बाड़ी होती है वहाँ तुम्हारा दो-चार कट्ठा भला क्यों न आबाद होगा? हाँ, हल, बैल, बीज पर जो मज़दूरी न दे सके तो उतने का रकम जोड़कर काग़ज़ पर मैं कहीं टीप लूँगा...भगवान जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं।

अच्छा तो भगवान करते ही हैं? चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूरकर फाँकती थीं, यह भी भगवान ठीक ही करते थे। और मालिक लोग कनकजीर और तुलसीफूल के ख़ुशबूदार भात, अरहर की दाल, परबल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते थे, सो, यह भी भगवान की ही लीला थी। चौकोर कलमबाग़ के लिये उनको हमारा दो कट्ठा खेत चाहिए था और हमें चाहिए अपने चौकोर पेट के लिये मुट्ठी-भर दाना।

अच्छी तरह मुझे याद नहीं है कि माँ को जबरन कैसे राज़ी किया गया, लेकिन मझले मालिक का क़लमबाग़ आख़िर चौकोर हो ही गया। बदले में बटाई के तौर पर धान का खेत तो कौन कहे, अँगूठे का वह पुराना निशान भी वापस नहीं मिला। कहा गया कि मिल नहीं रहा है, काग़ज़ात के नीचे तुम्हारा वह छोटा-सा पुरजा कहीं दब गया है। अरे मेरा न सही भगवान का भरोसा तो करो ..

छोटी मलिकाइन के यहाँ से फ़ुरसत मुझे बहुत ही कम मिलती थी। भैंस के चरवाहे दोपहर का समय ख़ूब आराम से बिताते हैं। लेकिन मैं तो सिर्फ़ चरवाहा ही नहीं था, उनका बहिया भी था। मेरा हड्डी-हड्डी, नस-नस और रोएँ-रोएँ पर उनका मौरूसी हक़ था। पोसने-पालने, सड़ाने-गलाने और मारने-पीटने का भी उन्हें पूरा हक़ था! दोपहर का खाना खाकर जब मैं बैठता कि अंदर से लौंडी आवाज़ देती—बलचनमा ऽऽऽऽ, कहाँ गया रेऽऽ, अरे बलचनमाऽऽ, कोढ़िया बोलता भी नहीं कहाँ गया।

थकावट के मारे चूर-चूर रहता मैं। ऐसा मन होता है कि कलमुँही का जाकर मुँह नोच लूँ। यह नौकरानी बड़ी मुँहफट थी। मलिकाइन के मायके की रहने वाली, देखने में ख़ूबसूरत। गोरी और छरहरी। दोनों बाँहों पर बाँसुरी बजाते हुए बाँके बिहारी कृस्न गोदे हुए थे। ठोड़ी पर बाईं ओर तिल गोदा हुआ था, कपार पर

बिन्दी। गरदन पर चाँदी की मोटी हँसुली थी। बाहों में बाजूबंद थे, नाक के छेद में सोने का छक था। कलाइयों में लाह की मोटी-मोटी चार लहठियाँ बड़ी भली लगती थीं। पैर ख़ाली थे। हाँ, उन पर पीपल के पत्ते की शकल का गोदना गोदवा रक्खा था। चौड़े पाट की साफ़ साड़ी पहनकर जब वह बाहर निकलती तो और भी ख़ूबसूरत लगती। और तो नहीं कुछ, मखौल और ठिठोली उससे सब करते थे। मझले मालिक का लँगड़ा नौकर तक इसमें नहीं चूकता। और वही जब कोढ़िया कहकर मुझे पुकारती तो मन करता कि झपटकर उसका मुँह-नाक नोच लूँ...। छन-भर भी मेरा बैठना उसे बरदाश्त नहीं था। कुछ काम नहीं रहता तो भी फ़िज़ूल की बातों में वह मुझे उलझाए रहती—बलचनमा, दुकान जाकर देख तो आ कि नहाने का साबुन आया है या नहीं। कभी कहती, बखार के अंदर घुसकर देख कि नेवले ने वहाँ अड्डा तो नहीं बनाया है। कभी उसका हुकुम यों होता—बलुआ पाठक की हवेली के अंदर जो बगिया है, उसमें मेंहदी के झाड़ हैं, मलिकाइन के हाथ और पैर कई दिनों से सूने पड़े हैं। जा, मेंहदी के पत्ते ले आ।

सभी बात में मलिकाइन का ही नाम लेती। ढीठ वह इतनी थी कि अकेले में पाकर जाने कितने दफ़े इन गालों को उसने चूम लिया होगा। हमारे छोटे मालिक का उससे लगाव-संबंध था कि नहीं यह बतलाना मेरे लिए कठिन है। लेकिन इतना मैं कहूँगा कि थी वह बड़ी चालाक। साफ़ था, जिस आबोहवा में पल-पुसकर वह बड़ी हुई थी उसमें कई हाथों की फेरी रही होगी। चाँदी के गहने उसकी ख़ूबसूरती के गवाह थे। चुलबुलापन कूट-कूट कर भरा था उसमें। मलिकाइन के लिए वह दाहिना हाथ थी।

पीछे मैंने भैंस दुहना भी सीख लिया था। सबूरी मंडल मेरे गुरु थे। दूध काफ़ी होता था, मगर नई-नई ब्याई भैंस का दूध पतला होता है। उससे मक्खन बहुत कम निकलता है। दूसरी बात यह कि सूखे दिनों की कड़ी घास और बरसात की मुलायम घास में बहुत फ़र्क़ है। भैंस ने आठ-दस महीने बाद दूध देना बंद-सा कर दिया। फिर दूध जास्ती से जास्ती मीठा होता गया। तिस पर जेठ, बैसाख की कड़ी घास तो भैंस के गाढ़े दूध को और मीठा बनाती गई। गरमी के दिनों में भैंस दूध कम ज़रूर देने लगी मगर उसमें मक्खन अधिक रहता था।

झूठ मैं नहीं कहूँगा कि उनके यहाँ दूध-दही खाने को मुझे कभी नहीं मिला। मिला क्यों नहीं, लेकिन सिनेह और जनत से नहीं। अमृत भी अगर दुतकारकर मिला तो क्या मिला? उस मिलने से न मिलना लाख गुना अच्छा।

हमारे तरफ़ छोटी जात वाले बड़ी जात वालों का जूठन खुलकर खाते थे। अब पंचायत ने इस पर रोक लगा दिया है। पर मैं तो यह बहुत पहले की बात कह

रहा हूँ। बचपन में मालिक लोगों की बहुत जूठन मैंने खाई है। बल्कि यों कहूँ कि अच्छी चीज़ जो भी खाई होगी वह बाबू लोगों की जूठन ही रही होगी। इन लोगों के यहाँ दामाद, बहनोई, समधी या ससुर जैसे मेहमान आते ही रहते हैं। उनके आने पर बढ़िया से बढ़िया चावल कोठार से निकलता। अरहर की पुरानी दाल निकलती। कुँजड़ा से कहकर अच्छी-से-अच्छी तरकारी मँगवाई जाती। मछुओं से अपने तालाब में रोहू मछली पकड़वाई जाती। दही, दूध, घी का तो कहना ही क्या। इस तरह मालिक के घरों मे 'महामहोच्छव' होता रहता। ऐसे अवसरों पर हम अभागों का भाग्य चमक उठता। क़ायदे के अनुसार मेहमानों के आगे खाने-पीने की चीज़ें अधिक ही रक्खी जाती थीं। वह आधी या चौथाई ही खा पाते। बाक़ी, जो बचता उससे हमारे जैसों की जीभ का सराध होता। ओह! जिस दिन मेहमान आते उस दिन मेरी दादी कितनी बेचैनी से उनकी जूठन का बाट जोहती! उनके खा लेने पर जूठन बटोरकर दादी ले आती। मैं भी बुलाया जाता। हम सभी उस जूठन को घेरकर बैठते। सबको अपना-अपना हिस्सा मिलता। खाते समय दादी बतलाती जाती—यह कटहल का बड़ा है, यह सहिजन का अचार, यह रोहू की पेटी, और देखो न, खटमिट्ठी कैसी अच्छी है! यह मझले मालिक के ननिहाल से आई थी। अरे वाह कनकजीर चावल का भात कितना मीठा गमक रहा है! दाल से भी घी की ख़ुशबू आती है...मगर मलिकाइन का हाथ छोटा है। खुलकर जब परोसती ही नहीं तो बेचारा मेहमान क्या खाएगा और क्या छोड़ेगा?

मैं गाँव छोड़कर जब से बाहर निकला हूँ तब से दो ही एक बार जूठन खाई होगी। पर उन दिनों मालिक के यहाँ मेहमान की जूठन पा जाना भाग की ही बात थी; क्योंकि मालिकों की तरह दासों के भी अनेक परिवार थे। उन्होंने आपस में घर बाँट रक्खे थे। हमारे हिस्से में छोटे मालिक पड़ते थे। कभी-कभी यह सीमा टूट भी जाती थी। ऐसा तभी होता जब मूड़न, छेदन, जनेउआ, शादी-ब्याह, बूढ़ों का सराध वगैरह आ पड़ता। काम-काज के उस भीड़-भाड़ में एक मालिक के यहाँ बहिया—खानदान के सभी मिलकर खटते थे।

मालिकों की चार पट्टियाँ थीं। पुरानी हवेली बड़े मालिक के हिस्से में पड़ी थी। मझले और सझले मालिकों ने मिलकर उस पुरानी हवेली की मरम्मत करवा ली थी जो उनके निपूती चचा की थी और इधर पंद्रह-बीस साल से ढंढ्मंढ पड़ी थी।

छोटे मालिक ने अपने लिए एक हवेली अलग बनवाई। यह थोड़ी ही जगह को घेरकर बनाई गई थी। यही कोई दो बीघे की। बीच में आँगन, चारों ओर घर। इन घरों के चार-चार छप्पर थे। छप्पर को हमारे यहाँ चार कहा जाता है। कच्ची ईंटों की दीवारें खड़ी कर उन पर दो-दो धरनें डाल दी गई थीं। धरनों पर छोटे-छोटे

खंभे थे, खंभों के सहारे मुड़ेरे पर लम्बी बड़ेरी पड़ी थी। कीलों ठुकी साखों की कड़ियों पर चार टिके हुए थे। मालिकों को न बाँस की कमी थी न लकड़ी की। घास-फूस, खढ़-खढ़ी, सरपत-साबे किसी ऐसी चीज़ का अभाव वहाँ नहीं था जिसकी ज़रूरत घर बनाने में होती है। चौखटें सीसम की। किवाड़ थे कटहल की लकड़ी के बने। देखने में पीले, बनावट के अच्छे यह किवाड़ बड़े ही अच्छे लगते थे। आँगन की ओर चारों घरों में ओसारे थे। आँगन के दच्छिन-पूरब कोने में तुलसी का चबूतरा था, वहीं हनुमान जी की धुजा गड़ी हुई थी। लाल पताका पर लंबी लंगूर वाले महावीर जी सफ़ेद कपड़े से सी दिए गए थे। हाथ में टेढ़ी-सी गदा थी। उत्तर और पूरब के कोने से बाहर निकलने का रास्ता था। दरवाजे पर भी किवाड़ थे। बंद कर लेने पर घर और आँगन मिलकर हवेली को एक अलग संसार बना देते थे। दरवाज़े से सटा हुआ सुंदर दालान था। उसके अंदर वाले दो कमरों की हवेली के पुरबिया घर से भीतर-ही-भीतर संबंध था। बरसात के दिनों में पाहुनों को अंदर जाने के लिए सुभीता था। घूमकर सदर दरवाज़े से जाने पर भींगना होता लेकिन अंदर का दरवाज़ा खोल देने पर तुम हवेली पहुँच जाते। दालान के सामने खुली जगह थी। बाईं ओर बड़े-बड़े बखार थे। बैठक में एक ओर चार-चार पहियों वाली बड़ी-बड़ी संदूकें पड़ी थीं जिनमें पुराने ज़माने के बेढंगे खुरदरे ताले लटक रहे थे। दूसरी ओर तो तख़्तपोश थे, उनमें से एक पर बीचोंबीच शतरंज का घर खुदा हुआ था। अंदर कमरों में छोटे-छोटे दो ख़ूबसूरत पलंग खड़े थे।

हवेली के उत्तर मवेशीख़ाना था। लकड़ी का लंबा नांद रखा था जिसके दोनों तरफ़ चार-चार खूँटे ठुके हुए थे। जरा हटकर सीमेंट की गहरी और गोल हौद बनी थी, उसके भी दोनों ओर दो खूँटे गड़े थे। वह भैंसों के लिए था। उन आठ खूँटों में बैल बाँधे जाते थे। बैलों की सेवा मुझे नहीं, हलवाहों को करनी पड़ती थी। गाय वहाँ एक भी नहीं थी। बड़े घरों में गाय रखना दरिद्दर समझा जाता है। जिन्हें भगवान ने पालने-पोसने की सामर्थ दी है, उनके यहाँ भैंस ही पाओगे।

हमारे मालिक की पट्टी में दिखावा कम था मगर रुपइया-पइसा जास्ती था। गाड़कर रक्खे हुए थे। दस हज़ार का लहना-तगादा चलता था। खाने वाले सात ही मुँह थे। उपज थी हज़ार मन की। मलिकाइन बड़ी चालाक थीं। भादों-आसिन में वह अपने बखार खोलतीं और चढ़े दाम पर सारा धान बेच लेतीं। डेढ़-दो सौ मन ड्योढ़े-सवाए पर भी लगातीं। देते समय का बटखरा लेते समय ग़ायब बतलाया जाता। एक बार फूदन मिसर की विधवा औरत पूस में धान वापस करने आई थी। बराह्मनी ने टोकरी में ढो-ढोकर मलिकाइन के सामने धान का ढेर लगा दिया और कहा—तोलकर लाई हूँ साढ़े सात मन से कुछ जास्ती ही है। फिर भी मलिकाइन, आप तौलवा लीजिए।

उस बखत वह हाथों में मेंहदी लगाए हुए थीं। मुझे अंदर बुलाया और कहा—जा, जूगल कामत को बुला ला। वह तौल भी लेगा और बखार में डाल भी देगा।

जूगत कामत केवट थे। छोटे मालिक ने दस कट्ठा खेत दे रखा था। इसी घर से उनकी परबरिस होती थी। इन्हीं के यहाँ मजूरी-बनिहारी करके बेचारे का निरबाह होता था। अफाल-विकाल, बेर-कुबेर, रात-बिरात, समय-कुसमय जभी ज़रूरत पड़ती, मलिकाइन कामत को बुलवा लेतीं। क़र्ज़ और गुलामी में सिर से पैर तक डूबा हुआ यह आदमी मलेरिया की हड्डीतोड़ बीमारी में गल-पचकर जब मरा तभी छुटकारा पा सका।

जूगल को मैं बुला लाया। मलिकाइन ने उससे कहा—उत्तरबरिया घर में बटखरा पड़ा है, तराज़ू भी वहीं है। लाकर तोल लेना यह धान।

कामत सफ़ेद पत्थर की गोलमटोल पनसेरी से जब तौलने लगे तो ठुड्डी हिलाकर बराह्मनी बोली—ऊँहुँ! यह नहीं है वह बटखरा जिससे तौलकर मिला था...ऊँहुँ...

हँऽऽऽ! सच बघारने आई है—गरजकर मलिकाइन ने कहा—देखो तो कामत, फूदन मिसर की यह विधवा क्या बक रही है? जब पेट जलने लगता है तब तो आ-आकर नाक रगड़ती है, ईसर-परमेसर, अनपुर्ना-लक्ष्मी जाने क्या-क्या बनाकर पैर पकड़ती है! मौके पर न दो धान तो समूचे गॉव को बरमबध लगेगा, दो तो लौटाते समय...फटता है! सँइयाँडाही कहती है कि बटखरा बदला हुआ है!!

फिर ताव में आकर मलिकाइन ने मेंहदी लगे अपने हाथों को दच्छिन की ओर फैला लिया और चिल्ला उठीं—दुहाई गंगा मइया की! छटाँक-आधा छटाँक धान के लिए जो मैंने बटखरा बदला हो तो मेरा सत्यानाश हो नहीं तो झूठ-मूठ का कलंक लगाने वाली इस राँड की माँग अगले जन्म में भी ख़ाली की ख़ाली रहे...

मोसम्मात बेचारी चुप रही, और चारा ही क्या था? हर साल जेठ-अखाढ़ में वह यहीं आकर हाथ फैलाती थी। उसने जी को कड़ा कर लिया—पसेरी-दो पसेरी धान यह अधिक ही लेगी तो क्या? घटेगा तो देना भी इसी को पड़ेगा न?

मलिकाइन की ओर वह घूरकर रह गई। तौलना खतम हो चुका था। सात मन दो पसेरी हुआ। झख मारकर बेचारी टोकरी-भर धान और ले आई। दो पसेरी तौल लेने पर थोड़ा-सा धान टोकरी में बच रहा। जूगल ने हाथ से हाथ ठोंककर धूल झाड़ी, फटे-मैले अँगोछे से मुँह-कान पोंछा। अँगना के किनारे जाकर खखार आया और ब्राह्मणी से कहा—ले जाइए मिसराइन, यह धान बचा है।

गिरहथिनी ने टोका—अरे, ले कहाँ जायँगी? पाव-आध पाव भी क्या कोई चीज़ है। जाओ, यह भी बखार में डाल आओ। हमारे यहाँ पड़ा रहेगा तो समय पर इनके ही काम आएगा नहीं तो फाजिल अनाज ये लोग छींट-छाँट डालते हैं।

रंज और ग़म के मारे मिसराइन का चेहरा स्याह पड़ गया। उलटकर टोकरी को ज़ोर से उसने झाड़ दिया और झपाटे से निकल गई। ऑंगन से निकलते-निकलते उसने कहा था—हे भगवान! इनका पेट है कि अगम कुआँ! इतना धन, इतनी संपदा। फिर भी संतोष नहीं!

ऐसे ही करिमबक्कस को भी एक बार मैंने छिलमिलाते देखा था। बसंत पंचमी का दिन, शाम होने में तनिक देर थी। वह और उसका बेटा दो टोकरी धान लाए। उस रोज़ मलिकाइन ने ख़ुद तौला था। वही सफ़ेद पत्थर वाली पनसेरी थी। तराज़ू मगर दूसरा था। तीन मन में एक पनसेरी धान कम हुआ। शेख़ हाय-हाय करने लगा—सरकार, हम तो दो सेर से ज़्यादा ही लाए थे, घट कैसे गया।

उनकी दाढ़ी के नज़दीक अपने दाहिने हाथ को चमकाती हुई मलिकाइन गुर्रा उठीं—सुगरखौका, लाज-शरम तुझे छू तक न गई लेकिन मुझे तो भगवान का डर है...वही बटखरा, वही तराज़ू। वही तू और वही मैं...फिर हाथ के अँगूठे और बिचली अँगुली को टेढ़ी करके मलिकाइन ने ऐसा अभिनय किया मानो करिमबक्कस की दाढ़ी नोच लेंगी।

इस तरह की कई बातें मुझे याद हैं। उनके यहाँ काम करने वालों की कमी तो थी नहीं। मज़दूरी में अच्छा दाना नहीं मिलता था। झख मारकर मज़दूरों को लेना तो पड़ता ही। दिन-भर काम कराके कच्ची तौल से तीन सेर खेसाड़ी या जौ या मडुआ मिलता। दाने हलके और कभी-कभी घुन लगे होते थे। कभी-कभी धान भी मिलता था। डेढ़ पहर काम कर चुकने पर पाव-भर पिसान से बनी मडुआ की रोटी पनपिआई मिलती।

धान रोपने के दिन बड़ी चहल-पहल के होते थे। उत्तर बिहार के कई ज़िलों में धान की फ़सल काफी अच्छी होती है। वहाँ की ख़ास फ़सल धान ही समझ लो। दरभंगा ज़िला तीन डिविजनों में बँटा हुआ है—सदर, समस्तीपुर और मधुबनी। सदर और मधुबनी धान की अपनी फ़सल के लिए मशहूर है। बर्खा उधर बैसाख के अंत से ही शुरू हो जाती है। रोहिनी नछत्तर में कोसों फैले खेत धान के नए-नए पौधों से हरे समुंदर की तरह लहराते रहते हैं। आँखों को तर करने वाली वैसी हरियाली तुम्हें और कहाँ मिलेगी? यह पौधे महीना-डेढ़ महीना में बड़े हो जाते हैं। हाथ-हाथ भर के। तब तक निचली सतह के खेतों को जोत-जोतकर किसान तैयार किए रहते हैं। आसाढ़ में धान के छोटे पौधे, लोग इन्हीं खेतों में रोपना शुरू करते हैं। धान रोपने का यह सिलसिला सावन तक चलता रहता है। हाँ, ऐसा वहीं होता है जहाँ बारिश काफ़ी होती है। हमारे यहाँ नहर का इंतजाम नहीं है। इन दिनों हर काश्तकार की कोशिश यही होती है कि पहले उसी के खेतों में धनरोपनी हो जाय।

बनिहारों और खेत-मजूरों की मदद के बिना ऐसा होना असंभव है। छोटे-बड़े सभी गिरहथ इसी से धान रोपने वाले मज़दूरों को चार सेर की मज़दूरी देते थे, और यह भी कि मेड़ पर बैठाकर दाल-भात, तरकारी-अचार खिलाते थे।

मलिकाइन अपनी खेती को सँभालने के लिए नइहर से मज़दूर मँगवा लेती थीं। काम की निगरानी के लिए दूर के रिश्ते का भाई साथ आता। रामपुर के पड़ोस में दो छोटी-छोटी बस्तियाँ मुसहरों की थीं। साँवला रंग, ठिंगना कद, गोल माथा, छोटी-छोटी आँख, दिया जैसी नाक—मुसहर होते हैं; मगर मज़बूत काठी के। मेहनती और ईमानदार। थोड़े में ही संतोख करने वाले। मुसहरों की दो बस्तियों से क्या होता? वहाँ आसपास पचासों काश्तकार और कई ज़मींदार बिछे पड़े थे। धान रोपने के दिनों में मज़दूरों की कमी पड़ जाती। हमारे मालिक की औक़ात के लोग अपने ससुराल, ननिहाल से कमकर मँगवाते; नहीं तो ठीक बखत पर काम सपरना मुश्किल होता।

मलिकाइन इन दिनों अपनी मुट्ठी ज़रा खोल देती थी। आम और मिर्च का अचार भंडार से निकल आता। लगातार कई दिनों तक तीस-तीस, चालीस-चालीस आदमियों का खाना तैयार होता। बैलगाड़ी पर चटाई बिछा दी जाती। उस पर केले के पत्ते। फिर भात डाल दिया जाता। पीतल के बड़े हंडे में दाल, टोकरी में तरकारी और अचार। खेतों के बीच-बीच गुज़रने वाले बाँध पर जाकर गाड़ी खड़ी हो जाती। साहड़ के तले दूब पर बैठकर मजूर खाना खाते और फिर रोपनी शुरू होती।

मेरा भी मन मचलता कि मजूरों के साथ धान रोपूँ; मगर नहीं, सुबह-सुबह भैंस चरा आने के बाद बथान साफ़ करना पड़ता। आठ बैल थे। भैंसें अब दो हो गई थीं। मलिकाइन के भाई घोड़ा पर चढ़ के आए थे। सो, उसकी जगह भी लीद से भरी रहती। मैं नहीं तो और कौन साफ़ करता? अपनी भैंसों का गोबर-मूत उठाना भला क्यों अखरता? लेकिन बैलों की जगह साफ़ करते समय मेरा रोआँ-रोआँ मलिकाइन को गालियाँ देता। गोबर-गोंत, कीच और लीद उठा कर उन जगहों पर बालू डाल देता ताकि आराम से माल-जाल वहाँ बैठ सकें।

इसके बाद बासी भात या मडुआ की गरम रोटी कलेवे में मिलती। अच्छी तरह निगलकर शायद ही कभी खा पाता होऊँगा क्योंकि मलिकाइन और उसकी लाडली नौकरानी का हुकुम-पर-हुकुम छूटता रहता—बलचनमा, जा दौड़, तालाब की मछलियाँ नाले से निकलकर भाग रही हैं, बलचनमा कलमबाग़ में वह देख कोई आम तोड़ रहा है; बलचनमा, अरे वह किसकी गाय मूँग चर रही है...लगता था कि एक ही बलचनमा बीस शरीरधारी है और एक ही समय में बाख़ूबी बीस काम कर सकता है। खवासिन खा-खाकर ख़ूब तगड़ी हो गई थी, सबसे अधिक गुस्सा

मुझे उसी पर आता—ससुरी मलिकाइन की सौत बन गई है! जिसकी अपनी कोख सूनी हो वह क्या जानेगी कि बच्चों का मोह क्या होता है। उसे क्या पता है कि चौदह-पंद्रह साल का बलचनमा बोतल झा (पहलवान) नहीं है। ख़ुद हरामज़ादी सूअर की तरह मोटी हो गई है; चला तक नहीं जाता और मुझ पर हुकुम चलाती है! बस चले इसका तो मेरे कंधों पर सवार होकर...।

कभी-कभी वह चिंग्घाड़ मारकर रो पड़ती थी। कोंचा खोलकर नंगी हो जाती और हाय बाप, हाय बाप करती हुई जीभ निकालती। बोलती—ही ही ही ही मैं काली हूँ, पोखर पर जो बौना पीपल है उसी पर रहती हूँ, खा जाऊँगी समूचा गाँव। बकरा दो बकरा...

मलिकाइन चीख़कर दोनों हाथ जोड़ लेतीं—दुहाई भगवती की, सुखिया का भूत भगा ले जाइए। दो कुँआरी लड़कियों को आपकी ख़ातिर खीर-पूड़ी खिलाऊँगी—फिर मेरी ओर मुँह करके कहतीं—बलचनमा, दामो ठाकुर को बुला ला।

दामो ठाकुर ओझा थे। झाड़-फूँक, पूजा-पाठ, टोना-टापर सब करना जानते थे। लाल रंग की धोती, लाल अँगोछा। कपार पर सिन्दूर का लाल टीका। चोटी के बाल बहुत बड़े थे, इतने बड़े कि खोल देने पर पीठ के पीछे कमर तक लटक आते। चोटी के आधे बाल हमेशा बँधे रहते। साल में छह महीना वह बाहर रहते और छह महीना घर। गले में हाथी के दाँतों को तरासकर बनाए गए दानों की माला थी—लाल रेशम से गूँथी हुई। सुमेर की जगह उसमें ऐसा दाना था कि जो दोमुँहे बाघ की तरह था। दाईं बाँह पर काले धागे में गूँथा हुआ बड़ा-सा मूँगा बँधा था। कान के छेद में से कुंडल की जगह रुद्राक्ष लटक रहे थे। तीन जगह से टेढ़ी, नेवले के मुँह-जैसी मूठ वाली बकुली छड़ी लेकर दामो ठाकुर जब चलते तो बच्चों को बड़ा ही डर लगता। पैरों से खड़ाऊ कभी नहीं छूटती।

तीन बार बुलाने पर वह आते। दच्छिन वाले घर में उन्हें बैठने को कहा जाता। मलिकाइन उनसे परदा करती थी। बड़े मालिक की लड़की का नाम था जयमंगला। वह बाल विधवा थी। देखने में ख़ूब सुंदर। साँवली। बड़ी-बड़ी आँखों वाली। उसे ऐसे समय बुला लिया जाता। वह बिचवई काम करती। चूहे के बिल की मिट्टी, पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूँद गंगाजल, पीपल के सूखे पत्ते...इतनी चीज़ मिलाकर दामो ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते।

फिर-फिर नंगी न हो जाय। इसलिए मलिकाइन लौंडी की साड़ी में कमर के पास गाँठ बांध देतीं। दो हलवाहे कल्लर और छीतन उसे बीच आँगन से पकड़कर तांत्रिक जी के नज़दीक बैठा जाते। वह ऊपर बताई चीज़ों से झाड़ना शुरू करते—ओम् काली काली महाकाली इंद्र की बेटी ब्रह्मा की साली फू...इतना कहकर कुछ

देर तक होंठ पटपटाते और फिर खवासिन की छाती पर फूँक मारते। फिर सिर पर, कंधों पर, कमर में। आँखों का इशारा पाकर दूसरे लोग घर से निकल जाते, किवाड़ भिड़का दिया जाता। अंदर से हुँ हुँ की आवाज़ आने लगती।

थोड़ी देर बाद किवाड़ा खुलता। लेकिन किसी को अंदर जाने का साहस नहीं होता। थोड़ी देर बीतने पर पसीने से लथपथ दामो ठाकुर बाहर निकलते और यह कहते हुए आँगन से निकल जाते कि नौकरानी का मिज़ाज ठीक कर दिया है, बड़ा ज़बरदस्त भूत था, मुश्किल से क़ाबू में आया...अभी थोड़ी देर, जयमंगला उसे अकेली छोड़ दो।

बरसाती नदी में बाढ़ आती है। कैसी विकराल हो जाती है वह! न कूल न किनारा! भूत लगने पर सुखिया का यही हाल होता। भूत उतर जाने पर वह कुँआर-कातिक की नदी की तरह हो जाती। भूत या जिन्न अक्सर बाँझ औरत को ही पकड़ता है। हमारी मलिकाइन के यहाँ उस लौंडी पर साल में दो-एक बार इस तरह का दौरा आया करता और तब दामो ठाकुर की गुहार होती। उसके न रहने पर डेढ़-दो दिन तक वह उछलती-कूदती, रोती-हँसती। खुले बाल, नंगी पकड़कर उसे मलिकाइन उतरबरिया घर में डाल देतीं, किवाड़ा बंद कर ज़ंजीर चढ़ा देतीं।

एक बार उसने अंदर से ख़ूब ज़ोर लगाकर किवाड़ों को पीटना शुरू किया। मलिकाइन ने अनंत बाबू को बुलाया। वह ख़ूब हट्टे-कट्टे थे। आठों पहर उनका खेती-गृहस्थी में बीतता। बदमाश से बदमाश घोड़े को सही रास्ते पर लाने में, बिगड़े बैल की सींग पकड़कर क़ाबू करने में उनकी बराबरी दूसरा कोई नहीं कर सकता था। उस दिन मलिकाइन ने उन्हें नौकरानी के भूत से भिड़ा दिया। लगी कुश्तम-कुश्ता होने। वह भी मरदों की तरह पैंतरे बाँधती थी...लेकिन वह तमाशा मैं देख नहीं सका, न दूसरे देख सके, क्योंकि बाहर से किवाड़ लगा दिए गए। मलिकाइन का कहना था—तमाशगीरों के सामने भूत-पिशाच की ताक़त चार गुनी बढ़ जाती है, यह अकेले ही पस्त होते हैं...मुझे तो भूत-पिशाच के बल का भेद कभी समझ में नहीं आया।

भैंस चराते तीन साल जब हो गए तब दादी बीमार पड़ी। ऐसी पड़ी कि फिर उठने का नाम नहीं लिया। अंदर से पेचिस बाहर से दमा। पुराना ढाँचा उसका चूर-चूर था ही और अधिक दिन चलना असम्भव था। वहाँ गाँव में किसी को कुछ होता तो मधुबनी के सरकारी अस्पताल से दवा लाता। बाबू-भैया लोग थे कि छोटी बीमारी में भी उनके यहाँ डाक्टर बुलाए जाते। अढ़ाई रुपया उनकी फ़ीस थी, एक रुपैया एक्के का भाड़ा। दवा का दाम अपना ऊपर से दो। बाप रे! ग़रीबों के पास

पथ-पानी के लिए भी धेला-पैसा नहीं रहता, डाक्टर की फ़ीस और दवा के दाम का क्या ठिकाना?

गाँव में ही एक बूढ़े थे जो वैद्य का काम करते थे। लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला बीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे? अपनी दादी के लिए दवा मैं उन्हीं से लाया था। बरसात का अंत था। भादों की धूप कितनी कड़ी होती है। एक रोज़ दोपहरिया में डेढ़ पहर तक पंडितजी ने मुझसे काम लिया। काम क्या था? यही कि भदई धान की दँवरी करवानी थी। काम खतम होने पर उन्होंने मुझे दवा की तीन पुड़ियाँ थमाईं। डर था कि मुझे भी बुख़ार आ घेरेगा मगर हम तो कठ जीव ठहरे। मामूली बुख़ार भला हमारे पास क्यों फटकेगा? मेरी जगह किसी मालिक-बालिक का लड़का होता और उसी तरह भादों की तपती दुपहरिया में दँवरी करता तो बिना बिछावन पकड़े न रहता।

दादी को रोटी हज़म नहीं होती थी, चावल ज़रूरी था। लाख छटपटा आया, बड़ी, मझली या छोटी किसी मलिकाइन ने मुट्ठी-भर चावल नहीं दिया। माँ ने जाकर मझले मालिक से कहा तो उनकी आँखें घूम गईं। बोले—बखत पड़ता है तो घिघियाकर हमारे यहाँ दौड़ती है नहीं तो...

गाली दी थी मालिक ने, वह मैं तुमसे नहीं कहूँगा भैया! मेरी माँ रोकर कहने लगी—सेर-भर चावल चाहिए नहीं तो बुढ़िया की जान नहीं बचेगी। सरकार काग़ज़ पर चढ़ा लीजिए। ड्यौढ़ा कि दुगुना जैसा कहेंगे पूस में दे दूँगी।

हें: बड़ी देने वाली हुई है! दो रुपया पहले का बाक़ी है सो खटाई में सीझ रहा है और चावल यह लेगी, पाँच महीने बाद जस की तस लौटा देगी। नहीं-नहीं तुम लोगों पर रत्ती-भर विश्वास मुझे नहीं रह गया है...फिर मालिक ने छोटी मलिकाइन के घर की ओर इशारा करते हुए कहा—जाती है न वहाँ, तुम्हारी अन्नपूर्णा वहीं तो है।

छोटी मलिकाइन से हम सेर-भर चावल पहले ही ले गए थे।

रात को सोते समय मझले मालिक मुझसे मुक्कियाँ लगवाते थे। पहर-भर मुक्कियाँ लगा-लगाकर मैं थक जाता। दिन-भर की थकान। अपने को भी ऊँघ आती और मुक्कियों की रफ़्तार धीमी पड़ती तो गिरहथ सोते ही सोते टोक देते—ऊँह, और इस तरह मेरी ऊँघ को तोड़कर आप वह करवट बदल लेते। चूतड़ पर हाथ मारकर इशारा करते—इधर मुक्कियाँ लगा...

इस तरह बड़ी देर तक मुक्कियाँ लगाने के बाद उन्हें नींद आती और तब मैं फ़ुरसत पाता। उन्होंने कह रक्खा था—जिस चीज़ की जरूरत पड़े, दिन में कहकर ले लेना और इसी भरोसे पर मैं उनसे चावल माँगने गया था। मन में खटका तो

था ही, माँ को इसीलिए साथ ले गया था। लेकिन बेकार! बहुत घिघियाने पर पाव-डेढ़ पाव चावल मिला वहाँ से। उसमें छटाँक-छटाँक करके कई दिनों तक दादी को भात खिलाया गया। कभी-कभी मैं अपनी मलिकाइन का जूठन लुका-छिपाकर घर दे आता था। चौमासे में मेहमान भी नहीं आते थे। असाढ़, सावन, भादों और आसिन इन चार महीनों में रास्ता कीचड़, कादों और पानी से भरा रहता था। और तुम जानते ही हो कि देहात में सब जगह सड़कें नहीं होतीं। सूखे दिनों में लोग खेत-ही-खेत होकर चलते हैं। बहुत हुआ तो घूम गए, मेड़ पकड़ ली। धान के खेतों में अक्सर पानी भरा रहता है या फिर ज़मीन बहुत गीली रहती है। कमर और छाती तक ऊपर उठकर लहलहाते धान के पौधे अपने बीच से चलने में बड़ी रुकावट डालते हैं। रबी के खेतों में से होकर चलना आसान है, मगर धनहर खेतों को पार करने के लिए तुमको मेड़ का ही सहारा लेना होगा। इसीलिए बरसात के चार महीने, देहातों में घूम-फिरकर पहुनाई करने वालों के लिए ठीक नहीं। लगातार इतने दिनों तक मेहमान न आने पर हम घाटे में रहते थे। जूठन का भात हमारे दैनिक जीवन का बहुत बड़ा सहारा होता था।

सावन-भादों में आकर सभी अनाज मँहगे हो जाते थे। जिन घरों में कमाने लायक़ मज़बूत काठी के आदमी थे, मैं उनकी बात नहीं कहता। उनके यहाँ तो धान रोपने की मज़दूरी में थोड़ा-बहुत धान आ जाता था। पर मेरे यहाँ कौन था? ले-देकर समूचा मैं था। सो मुझे छोटी मलिकाइन और उनकी दुलरूआ लौंडी रात-दिन हुक्मों में नाथे रहतीं।

दादी के लिए दवा लाने की छुट्टी नहीं मिलती। मेरा मन अंदर-ही-अंदर रोता कि काम छोड़कर दादी के पास बैठा रहूँ। असल में उसे माँ से बढ़कर प्यार करता था। जब से होश सँभाला तब से अपने को दादी की ही गोद में पाया। चरवाहे का काम करने के पहले तक दादी के ही बिस्तरे पर उसी की बाँह को तकिया बनाए सोया करता था। वह कहीं से कोई अच्छी चीज़ लाती तो मेरे लिए उसमें से थोड़ा अलग रख देती।

मरने से दो दिन पहले उसे इच्छा हुई कि पोठी मछली का भुरता खाय। मगर पोठी चढ़ती बरसात में जितनी आसानी से मिलती है उतनी आसानी से और समय नहीं। फिर भी मछली तो कहीं से लाना ही था। भादों खतम हो रहा था। अपने भजार से मैं बनसी ले आया। दोपहर के बखत बुढ़िया पोखर के दच्छिन तरफ वाले भिन्डे पर पहुँचा। उधर कुछ जंगल-सा था। बाँस, जामुन, साहड़ और गूलर के पेड़ थे। गूलर का एक बौना पेड़ पोखर के बिलकुल किनारे था। तीन जगह से टेढ़ी और मोटी डाल पोखर की कछार में दूर तक फैल आई थी। बरसात के दिनों में पोखर भरा रहता। पानी कभी-कभी भिन्डे के उपरली को छुए रहता। तब उस गूलर की

झुकी डाल पानी में डूब जाती। भादों के बाद पानी घटने लगता, वह डाल बाहर निकलती जाती। छिपकर काँटे से मछली फँसाने वाले गूलर की इसी डाल पर झुरमुट की आड़ में बैठ जाते। चाली, गूंथा आटा या सत्तू का बोरा देकर काँटे को पानी में डाल देते और निगाह को एकटक उस ओर गड़ाए रहते। पहर-दो पहर की कड़ी तपस्या के बाद कभी टेंगरा, कभी भुनचट्टी, कभी गरई, कभी सिंगी हाथ आती।

मालिकों को पता लगता तो वे मछलियाँ भी छीन लेते और काँटे वाली डोरी और बाँस या लग्गा भी, फिर जूतों से पीठ की पूजा करते।

आख़िर गौसैंया का नाम लेकर मैंने काँटा डाल दिया, गूलर की डाल पर बैठकर इंतज़ार करने लगा। थोड़ी ही देर हुई कि काँटे की डोरी में कुछ हरकत मालूम हुई, लग्गी को छपाक से खींच लिया मैंने। देखा, टेंगरा है। काँटा मय मछली के, भीड़ के कगार से सटी गूलर की टहनी में उलझ गया। सोचा, चलो दादी के लायक़ मछली हो गई। काँटा, डोरी समेटकर लग्गी को बग़ल दबाए मैं घर की ओर चला। नाक-मुँह के रास्ते लंबी घास की नत्थ डालकर टेंगरे को मैंने उँगली से लटका रक्खा था। डेढ़ पहर दिन बाक़ी रहा होगा। दूर का चक्कर लगाकर घर पहुँचा था, सीधा रास्ता छोड़कर। माँ ने मछली को आग में डाल दिया। पकते समय उसकी गंध बहुत दूर न सही, कुछ दूर तो पहुँच ही रही थी।

कि इतने में हन-हन, पट-पट करती हुई नौकरानी आ धमकी। मुँह बनाकर और हाथ चमकाकर उसने पहले तो मेरी ओर देखा, फिर कहा—जाओ न आज, मलिकाइन गाँड़ का गूदा निकाल लेंगी...इसके बाद उसने नथने बिचका लिए। भौंह और मुँह को बुरी तरह सिकोड़कर उसने फिर कहा—मछली फँसाने का शौक चर्राया है! कितना मार लाए हो? महक तो ख़ूब आ रही है। खाओ, बाबू खाओ, गाँड़ फटेगी तो मालूम होगा...चल बदमसवा, मलिकाइन के पास...

दादी अंदर लेटी पड़ी थी। पलक उठाकर उसने देखा तो मुझे मालूम पड़ा कि बिल के अँधेरे से ख़रगोश की आँख चमक रही है। दोनों हाथ जोड़कर सुखिया को मैंने इशारा किया...चुप रहो। अलग ले जाकर माँ को समझा दिया—यह यों ही बकती है, जाता हूँ। तू दादी को टेंगरे का भुरता और भात खिला देना। माँ क्या कहती है इसकी पर्वाह किए बिना ही घर से मैं निकल गया। हाथ पकड़कर नौकरानी को भी खींचता आया।

रास्ते में बड़े मालिक की हवेली के पिछवाड़े सुखिया ने दोनों बाँहों में मुझे कस लिया। चूमती हुई बोली—अगर तू मेरी बातों में 'ना' कभी न करे तो...।

धत् चुड़ैल की!—छिटककर मैंने अपने को उसकी बाँहों से छुड़ा लिया। ऐसा लगता था कि उसकी भूखी आँखें मुझे निगल जाएँगी। उसने मुस्कराकर कहा—कुत्ता

से भी बदतर है तू जो चुमकारने-पुचकारने पर अगली दोनों टाँगों के सहारे खड़ा होकर अपने सिनेही के सीने से सटने को बेताब हो जाता है।

सिर से पैर तक सुखिया को मैंने एक बार देखा और छन-भर में मेरा रोआँ-रोआँ सिहर उठा। मुँह बनाकर मैंने कहा—'कल्लर से ब्याह क्यों नहीं कर लेती है?'

'और तू?'

'मैं तो अभी छोटा हूँ।'

'मगर है तो बतिया खीरा अभी से...'

उछलकर मैंने अपनी हथेली से उसका मुँह बंद कर दिया। दूसरी ओर होकर मैंने थूका और बोला—'बेहया कहीं की! लाज-शरम सब धो-धाकर पी गई!'

'पी न जाती तो निर्वाह कैसे होता?'

वह मुझे गंदगी की पिटारी जैसी लगी। तय था कि काँटे से मछली निकालने की बात कहकर मलिकाइन के हाथों वह मुझे पिटवाएगी। लेकिन पिटवाना अपने को मंज़ूर था, उसके पाँच सेर भारी मुँह से अपने को चटाना मंज़ूर नहीं था।

उस दिन हुआ यही था कि मालकिन ने आम की आधी जली चैली से पीठ दाग दी थी मेरी।

मलिकान में कोई ऐसा नहीं था जो बिना गाली दिए मुझे संबोधित करता हो। बात-बात में साला। बात-बात में ससुर, पाज़ी और नमकहराम का तो कहना ही क्या। दोपहर, रात को सोए रहने पर कभी-कभी ऐसा होता कि मालिक पेशाब करने बाहर आते। खड़ाऊँ की खटर-खटर, खट्ट-खट्ट से भी जब आँख न खुलती तो नज़दीक आकर बेदर्दी से वह मेरा कान खींचने लगते। खींचते-खींचते कहते—ललचनमा का बाप, उठ साला! भैंस को मच्छरों ने परेशान कर रक्खा है, जा वहीं। फिर से आग जला दे; धुँआ लगने से मच्छर भाग जाएँगे.. ।

रोता-रोता मैं उठता और जाकर देखता कि अलाव में अभी काफी आग है और धीरे-धीरे धुँआ भी उठ रहा है। लेकिन इससे क्या? सो जो रहा था मैं! वह भला मालिक से कैसे देखा जा सकता?

इस तरह गालियाँ, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुतकार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था। अब मेरी आयु सत्रह साल की थी। मेरी ही उमर का था रामखेलौना जो बड़े मालिक के छोटे लड़के के साथ पटना रहता था। छुट्टियों में अपने मालिक के साथ वह भी आता। छँटे हुए बाल, आधी बाँह की कमीज़, धारीदार नेकर...रामखेलौना का यह रूप मुझे बिलकुल अनोखा लगता। इरखा होती कि मैं भी किन्हीं मालिक बाबू के साथ कुछ

दिन किसी शहर में जाकर रह आता। अपनी मौजूदा ज़िन्दगी से मैं ऊब चुका था। दुनियाँ की बातों को समझने के लिये जिस पक्की उमर की ज़रूरत है वह यहाँ नहीं थी। फिर भी छोटी-छोटी दो आँखें तो थीं! दो कान तो थे? घर जाने पर माँ को जब कठौती में मड़ुआ का आटा गूँथते देखता तो अपनी ग़रीबी हल्की नोंक बनकर कलेजे को फाड़ने लगती।

वरुण के बेटे : (उपन्यास अंश)

दो

निचले मैदानों का पानी सूख चला था।

सूखते पानी को जगह-जगह मछुओं ने चिलमननुमा सिरकियों से घेर रखा था। बिसुनी, खुरखुन, नीरस, रंगलाल जैसे मछुओं के लिए निचले मैदानों वाला उथला-छिछला और घटता-बढ़ता यह पानी विधाता का वरदान ही था। भादों से लेकर ठेठ जेठ तक इस पानी से सैकड़ों मन मछलियाँ वे निकालते थे। बड़ी-बड़ी नहीं छोटी-छोटी मौसमी मछलियाँ। इच्चा, मारा, कतला, पोठी, पोठा, टेंगरी, टेंगरा, गरई, गरचुन्नी, कबई, सिंगी, मंगुरी, अन्हई आदि।

मलाही-गोंढ़ियारी से मील-भर पूरब, यह एक भारी चौर था। उत्तर-दच्छिन लंबाई में कुछ ज़्यादा, पूरब-पच्छिम चौड़ाई से कुछ कम। डेढ़ कोस का यह अंचल 'धनहरा चौर' कहलाता था। मंगलगढ़ के सिसौदिया राजाओं की ज़मींदारी थी पहले, अब जनाब अंचलाधिकारी साहब की ख़ास निगरानी में आ गया था।

कोसी का ज़हरीला असर इन देहातों को वीरान बना चुका था। बाढ़, अकाल, मलेरिया के मारे लोग तबाह थे। कोसी जब पूरब की तरफ़ बीस-तीस कोस परे थी, उन दिनों धनहा चौर की चंदन-चिकनी माटी सोना उगलती थी। अब तो गाँव के गाँव उजाड़ पड़े थे। जिनमें सामर्थ्य थी वे पच्छिम हटकर दूर के अंचलों में जा बसे थे।

पहले इधर की मुख्य फसल थी अगहनी धान, अब कोई फ़सल 'मुख्य उपज' नहीं रह गई। बाढ़ का दौरा देर से आता तो मडुआ, मकई और मूँग की भदई फ़सलें थोड़ी-बहुत हो जातीं। कभी वर्षा की अति, कभी उसके अभाव की अति— धान की फ़सलों के लिए दोनों ही स्थितियाँ घातक थीं।

मलाही-गोंढ़ियारी में मछुओं के तीस-पैंतीस परिवार थे। खाने वाले मुँहों की तादाद तेज़ी से बढ़ रही थी। भोला की श्रेणी के संपन्न-सुखी गृहपति इनमें दो ही तीन थे। अधिकतर मछुए खुरखुन की हैसियत के थे। वे पास-पड़ोस के इलाक़ों में पाँच-सात कोस तक और कभी-कभी दस-पंद्रह कोस तक मछलियाँ पकड़ने निकल जाते थे। इधर के जितने भी पोखर थे, जितने भी ताल-तलइयाँ थीं, जितनी भी नदियाँ और झीलें थीं, पानी का जहाँ भी जमाव-टिकाव था—सारा-का-सारा उनका शिकारगाह था। मछलियाँ ही नहीं, सिंघाड़ा-तालमखाना-कमल और कुंई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड़, केसौर, सारुख जैसी चीज़ें भी पानी से वे हासिल करते थे। पुरइन-पद्म के गोल-गोल चिकने-चिकने पत्तों की भी बाज़ारों

में काफ़ी खपत थी। तालमखाना उपजाने के लिए हज़ारों की एडवांस देकर ये लोग पोखर लेते थे ठेके पर। ठेके अक्सर सामूहिक हुआ करते।

गरज यह कि दुक्खम्-सुक्खम् चाहे जैसे इन मछुओं की दुनियादारी चल जाती थी। बच्चों के जरिये प्राइमरी शिक्षा भी परिवारों में प्रवेश पा रही थी। दो-तीन लड़के मिडिल पास कर चुके थे। भोला का छोटा लड़का दसवीं कक्षा में इम्तिहान देकर इस वर्ष ग्यारहवीं अर्थात् मैट्रिक फ़ाइनल में आने वाला था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने गोंढ़ियारी लोअर-प्राइमरी स्कूल को पिछले साल मान्यता दी थी। दो जवान गंगा में माल ढोने वाली जहाज़ी कंपनी में खलासी की ड्यूटी पर असालतन हुए थे।

चिलमनों से घिरा हुआ 'धनहा चौर' का पानी छोटी मछलियों का अटूट ख़ज़ाना था। पानी वाली सैकड़ों एकड़ ज़मीन घिरी थी। दो-दो तीन-तीन परिवारों ने मिल-जुलकर थोड़ी-थोड़ी दूर का हिस्सा अपने-अपने अधिकार में ले रखा था। फूस की दसियों अस्थायी झोपड़ियाँ चिलमनों से हटकर सूखी ज़मीन पर खड़ी थीं। रात को तो कम-सम, मगर दिन की मीठी धूप में झोपड़ियों का यह संसार मुखर हो उठता। लगता कि मौजे गोंढ़ियारी के मल्लाहों-मछुओं की आधी आबादी यहीं आ गई है।

जाल बुनते हुए या धागा बॉटते हुए अर्ध नग्न बूढ़े। हुक़्क़ा गुड़गुड़ाती या टिकिया सुलगाती हुई बुढ़ियाँ। कछारों में केंकड़े या कछुए खोजते हुए नंगधड़ंग लड़के! जलते चूल्हों पर काली हॉड़ियाँ, क़रीब बैठकर हल्दी-लाल मिर्च पीसती हुई सयानी लड़कियाँ, फटी-मैली धोतियों वाली।

यह साधारण झाँकी थी उस दुनिया की। माघ का महीना, पहर-डेढ़ पहर दिन उठा था। खुरखुन की बड़ी लड़की मधुरी अपने तीन भाई-बहनों से उलझ रही थी—उलझने का कारण थीं मंगुरी मछलियाँ। सेर पाँच-एक आज हिस्से में पड़ी थीं।

छोटी मछलियों में तीन का बड़ा नाम है—सिंगी, मंगुरी और कबई।

सिंगी और मंगुरी लोगों को बेहद रुचिकर लगती हैं। गाढ़े किरमिची रंग की चिकनी, पतली और बित्ता-डेढ़ बित्ता लंबी यह सिंगी और मंगुरी मछलियाँ आसिन से लेकर माघ-फागुन तक हाटों-बाज़ारों में अपनी शुहरत की धूम मचाए रहती हैं।

मधुरी के भाई-बहन मचल रहे थे कि एक-एक मंगुरी मिल जाए तो भूनकर खाएँ। मगर उसने पूरे परिवार की सुविधा का ख़याल किया।

—तीन तो आधा सेर होंगी मिलाकर!

—तो क्या होगा दिदिया?

—बाप रे, पाँच आना पैसा कुछ नहीं है तेरे लेखे?

अपने से छोटी बहन को मधुरी ने डाँटकर कहा और आँखें फाड़कर उसकी ओर देखने लगी।

तीरा मान लेगी बात तो भाई भी मान जाएगा और वह मान लेगा तो अपने से छोटी को मना लेगा। इसी से मधुरी सिर्फ़ बहन को डाँट रही थी। एक मंगुरी तो आख़िर मिल ही रही थी उन्हें।

तीरा गुमसुम नाख़ून खोंटती रही।

मधुरी ने भाई को लक्ष्य करके एक मछली फेंक दी—ले, जा!

तीरा रूठकर कछार की ओर चली गई।

नीरस ने कल दो कछुए पकड़े थे। पाँच सेर गोश्त निकला। सेर-भर खुरखुन की घर वाली को मिला था। रात का खाना उसी गोश्त की तीमन के साथ हुआ। मधुरी ने ज़रा-सी तीमन बचा रखी थी और उसे वह यहाँ ले आई थी। परसों रंगलाल के लड़के ने तीन बड़ी-बड़ी अन्हइ मछलियाँ कछार के गॉक के भीतर से निकाली थीं, एक उनमें से वह स्वयं मधुरी को दे गया था। मधुरी ने उसे भी सँभालकर रख छोड़ा था, अभी पकाने वाली थी।

भाई आठ-नौ साल का था, मान गया और मंगुरी उठा ली।

कटे धानों की खूँटियाँ उखाड़-बटोरकर लड़कों ने उस ढेर में आग लगा दी थी। वहीं वे मछलियाँ भून रहे थे। मधुरी का भाई मंगुरी लेकर उधर ही बढ़ा। छोटी बहिन पीछे गई।

मधुरी ने अब तक चूल्हा नहीं सुलगाया था।

जाने क्यों, मंगल का मुखड़ा उसकी चेतना को आज बार-बार उकसा रहा था। बहुत-बहुत याद आ रही थी मंगल की। हाथ-पैर हिलाने-डुलाने को जी नहीं करता था। जी यही करता था कि बैठ जाए और बैठी-बैठी मंगल के बारे में सोचती रहे, बस सोचती ही रहे...

पंद्रह दिन बाद मंगल की बहू आ जाएगी...

मधुरी का चिन्तन-चक्र घूमने लगा।

चाहने लगी कि ध्यान में सिर्फ़ मंगल ही आए, मंगल की बहू न आए ध्यान में। किन्तु अपरिचित-अकल्पित वह बहू लाख अवांछित हो, मधुरी की चेतना पर मानो बलपूर्वक हावी हो जाती थी!

थोड़ी ही देर तक अंतर्जगत् के ये मीठे-कड़वे खेल चले कि मधुरी का माथा फटने लगा। लगा कि मौन और निष्क्रियता उसे काट खाएँगे।

वह अंदर झोंपड़ी में टँगी हाँड़ी उतार लाई। बाहर खड़ी-खड़ी उसे नाक के पास लाकर सूँघा। बासीपन की दुहरी-तिहरी बास आ रही थी हाँड़ी से।

कल तो हाँड़ी चढ़ी नहीं थी यहाँ, परसों चढ़ी थी। अड़तालीस घंटे हो रहे थे। रात का खाना समूचे परिवार का घर में तैयार होता था। झोंपड़ी में रखवाली के

लिए कभी कोई रात को हुआ भी तो घर से खा-पीकर आ जाता था। मधुरी कल नहीं आ सकी थी, दिन-भर धान उबालती रही। भूँजा-फरही साथ लेकर यहीं भाई-बहन आ गए थे।

पीने का पानी गाँव के कुएँ से और धोने-पकाने का नज़दीक वाले पोखर से लाते थे यहाँ। सबेरे आते ही नीरा घड़ा भर लाई थी।

हाँड़ी धो-धाकर मधुरी नीरस की झोंपड़ी में हल्दी-लाल मिर्च पीसने गई। सिल और कहीं था ही नहीं, जिसे ज़रूरत होती पीस लाती। संजोग ऐसा था कि आसपास की चारों-पाँचों झोंपड़ियाँ ख़ाली थीं।

मधुरी सिल पर लोढ़ा चलाने लगी।

अब फिर उसे अपनी चुप्पी अखरी तो मंगल को ध्यान में रखकर गुनगुनाने लगी:

जिनगी भेल पहाड़, उमिर भेल काल!
जुनि फेकऽ आहे मोर दिलचन,
नेहिया पिरीतिया के जाल!!
आवऽ आवऽ, देखि जा हाल!!
उमिर भेल काल!!

(जीना हुआ मुश्किल, जवानी हुई घातक!
न डालो, न डालो ओ मेरे दिल के चाँद!
स्नेह और प्रीति का जाल!!
आओ, आओ, देख जाओ हाल!!
जीना हुआ दूभर, जवानी हुई काल।)

इन पदों को मधुरी दुबारा-तिबारा गुनगुनाना चाहती थी लेकिन बाप आता दीखा तो चुप मार गई।

बुधवार था न आज?

खुरखुन आया कि मछलियाँ लेकर हाट जाएगा।

उसे देखते ही बच्चे लपक के पास आ गए। वह बैठकर छिक्के की पेंदी पर माँछवाली खंचिया बैठाने लगा। आँखों से प्रसन्नता फूट रही थी।

समचुच, इतने अच्छे मांगुर सिवाय धनहा चौर के और कहाँ होते हैं! ख़ुशी के मारे कपार की नसें ढीली पड़ गईं तो सहज ही खुरखुन के होंठ अलग-अलग फैल गए और बत्तीसी बाहर झाँकने लगी। दाँत क्या थे, पकी-पोढ़ी लौकी के पंक्तिबद्ध बीज थे मानो! वैसे ही सुफेद, साबित और यकसाँ!

छह साल की नंगी बिटिया अब और क़रीब आ गई थी, आहिस्ते-आहिस्ते बिलकुल क़रीब आकर बाप के बदन से सट गई। भुनी हुई मंगुरी का अद्धा खा आई थी। हाथ-मुँह काले हो रहे थे। नाकों में नेटा-पोटा, आँखों में कीचड़। धूल-भरा सिर, रूखे-उलझे बाल। चूतड़ में और घुटनों पर घाव।

कड़ी मूँछ के छँटे बालों पर बच्ची ने हथेली रख दी तो खुरखुन ने बायीं बाँह फैलाकर उसे अपनी अँकवार में भर लिया।

उसे जल्दी थी, बच्ची के गालों और ठोड़ी पर हाथ फेरता हुआ खड़ा हो गया। बोला—छोड़, जाने दो! बहुत सारे काम पड़े हैं...

मछलियाँ टाँगकर खुरखुन हाट की तरफ चला। चलते समय मधुरी से कहता गया कि मंगल के गौने को सत्रह-अठारह रोज़ रह गए हैं, मंइआ तुझे कई बार याद कर चुकी है, आज ज़रूर मिल जाना।

माथा झुकाए मधुरी ने बाप की यह बात सुनी थी।

उसने तय कर लिया, आज वह मंइआ से मिल आएगी।

मंगल का ख़याल भुलाकर मधुरी इधर-उधर के कामों में और बातचीत में उलझी रही। भाई-बहनों को खाना बनाकर खिलाया, खुद खाया। हँड़िया फिर उसी तरह अंदर झोंपड़ी में टाँग दी। बिसुनी बाबा को टिकिया सुलगाकर दिया। बीच-बीच में मेंड़ से जा-जाकर मछलियों का भी अपना मोर्चा सँभाल आई थी।

धनहा चौर में आजकल कहीं भी अथाह पानी नहीं था।

बीचों-बीच एक-डेढ़ फर्लांग की लंबाई और डेढ़-दो सौ गज़ की चौड़ाई में छाती-भर पानी था। जेठ आते-आते यह पानी कमर-भर रह जाता था। असाढ़ से लेकर कार्तिक-अगहन तक धनहा चौर का इतना भाग अथाह पानी की वजह से झील बना रहता था। शरद् ऋतु में खुलकर खिलने वाले नीले कमलों की बहार देखते ही बनती थी। हँसुली की-सी शक्ल वाला यह मनोरम झील ही धनहा चौर के यश में चार चाँद लगाए हुए थी।

झीलवाला अंश चौर का दसवाँ हिस्सा था। बाक़ी हिस्सों में खेती भी होती थी, मछलियों का शिकार भी चलता रहता था। पानी के निकास की कोई राह नहीं थी। सूर्य-नारायण की कृपा से पूस-माघ तक जितनी दूर पानी सूख पाया, खेती वहीं तक सीमित रह जाती थी। शेष रहता था पानी वाला भूखंड। उस तरफ़ मछुओं-मल्लाहों को छोड़कर और किसी की दिलचस्पी नहीं थी। सर्वे के पुराने काग़ज़ात पानी वाले इन क्षेत्रों को 'दहलान' (बाढ़ग्रस्त) बताते आ रहे थे। पुराने भू-स्वामियों ने मछुओं से दो-एक दफ़े 'जल-कर' वसूलने की तिकड़म भिड़ाई थी, लेकिन इसमें उन्हें कामयाबी नहीं मिली तो झील की निकटवर्ती कछारें किस्तबन्दी ठेकों पर सस्ते-सस्ते

उठा दी थीं।

भोला के पिता फउदार सहनी ने बीस-पच्चीस वर्ष पहले पचास रुपये सालाना शरह पर दस बीघा (तीन एकड़ से कुछ ज़्यादा) कछार बंदोबस्त ली थी। भागलपुर के एक अंग्रेज़ हाकिम को उसने डूबने से बचा लिया था, पुरस्कार के रूप में साहब ने राजा से यह ज़मीन दिलवाई थी। 1934 ई. में भूचाल क्या आई, फउदार का भाग जाग गया था। धरती डोली तो झील का पाट उथला हो गया। उस उथलेपन ने पहले की कछारों को ज़रा ऊपर कर दिया और अब वे उपजाऊ खेत बन गईं।

भोला का चाचा बिसुनी ग़रीब का ग़रीब रह गया। अपनी जाँगर ही उसकी असल जमा-पूँजी थी। यही हाल खुरखुन-रंगलाल-नीरस वग़ैरह सामान्य मछुओं का था। उनमें आपस का एका भी हद दर्जे था। सभी परिवार दुख-सुख में साथ रहते थे।

घुटना-भर, जाँघ-भर और कमर-भर पानी धनहा चौर में यत्र-यत्र जगमगा रहा था। दूर-दूर सिरकियाँ खड़ी थीं। इधर की मछलियाँ उधर न चली जाएँ, उधर की इधर न आ जाएँ, इसी से निश्चित फ़ासलों पर पानी की हदबंदी की गई थी।

बिसुनी, खुरखुन, रंगलाल, नीरस आदि ने मिलकर काफ़ी दूर तक घेरा डाल रखा था। झील की एक फाँड़ी गोंढ़ियारी के सामने उत्तर की ओर काफ़ी इधर बढ़ आई थी। अब कमर-भर पानी रह गया था। यह पानी चंचल नहीं, स्थिर था। बहता पानी होता तो पतली तीलियों से आढ़े-तिर्छे बनी हुई, बझाऊ-उलझाऊ क़िस्म की 'सरैला' लगाई गई होती। कभी-कभी हँकाई होती। मछलियों के झुंड अपनी हद में एक-तरफ़ा बटुर आते फिर उन्हें गाँज से छाँक लिया जाता या टापी के सहारे पकड़ लिया जाता।

साझे के शिकार में डेढ़-दो सेर गरचुन्नी मछलियाँ आ गईं तो मधुरी ने बहन को पुकारा। वह अपने हिस्से के पानी में घुसकर इच्चा और मारा छाँक रही थी, हाथ में छोटा गाज था। वह तो नहीं आई, भाई नज़दीक आया।

—मैं चली घर को, तू चलेगा?

—अभी नहीं! बहन के साथ आऊँगा।

—तो छोटी को ले जाती हूँ।

छोकरे को भला क्या एतराज होता?

नीरस की झोपड़ी के पास धूप में बैठकर लाई खा रही थी। मधुरी ने हाथ से घर की ओर चलने का संकेत किया तो दौड़ी आई।

भोला के खलिहान से ज़रा हटकर यह रास्ता था, पुराना बग़ीचा और नई अमराई में से होकर।

कोई कुछ गा रहा था। स्वर और अलाप मधुरी को परिचित-से लगे। उसका

दिल धड़कने लगा...

अरे, यह तो चुल्हाई की तान है!... ''मछरिया...कबहूँ पकड़ में न आवे मछरियाऽऽ...''

चुल्हाई! रंगलाल का बड़ा लड़का!

मधुरी को कल ख़ुद आकर 'अन्हई' मछली दे गया था। तीन थीं लेकिन उनमें जो बड़ी थी वही मधुरी को पकड़ा आया था चुल्हवा!

मंगल और चुल्हाई—दोनों मधुरी के लिए जान देते थे। उसकी तरफ़दारी यद्यपि चुल्हवा के नसीब में नहीं पड़ी। फिर भी पट्ठा मधुरी पर फ़िदा था।

वह इधर-उधर देखने लगी, चुल्हाई नज़र नहीं आ रहा था।

गले में मिठास ग़ज़ब की थी। हल्की ट्यून में दिल का सारा दर्द उँड़ेलकर गा भी रहा था और खलिहान के आगे बाँसों के झुरमुट में पत्ते भी तोड़ रहा था।

मधुरी ने चाल धीमी कर ली। चुल्हाई के गाए पद अब साफ़-साफ़ उसके कानों में पड़ रहे थे :

कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया!
जुलमी मछरिया चलबल मछरिया।
कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया!
ताले में खेले, तलइया में खेले!
कुइयाँ में डुबकी लगावे मछरिया!
कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया!
जुल्मी मछरिया!
रात की बेरिया बिल्कुल लपत्ता।
दिन में नजर मटकावे, मछरिया!
कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया!
जुल्मी मछरिया!!...

मधुरी की रफ़्तार इतनी धीमी हो गई थी कि साथ चलने वाली छह साला छोटी बहन सौ-एक क़दम आगे निकल गई। मुड़-मुड़कर पीछे देख लेती थी। आगे कुत्ता दिखाई दिया तो डर गई, ज़ोरों से चीखी—दि-दि-या गे। गे दि-दि-याऽऽऽ!!

तब मधुरी का ध्यान टूटा और पैरों में फुर्ती आई।

घर पहुँची। माँ को मछलियाँ सौंपकर भोला की दादी से मिलने निकली।

नाक नुकीली। आँखें बड़ी-बड़ी। सूरत साँवली। होंठ पतले। दाँत छोटे-छोटे, हमवार और मोतियों-से चमकीले। क़द मँझोला।—मधुरी अठारह साल की हो

चुकी थी, मलाही-गोंढ़ियारी के युवक अपने गाँव की चार-पाँच सुंदरियों में उसकी गणना करने लगे थे। मंगल और चुल्हाई के साथ मधुरी के स्नेह-संपर्क की अफ़वाहें दो-एक बार उड़ी थीं फिर आहिस्ते-आहिस्ते दब गई थीं। अब मंगल की बहू गौना कराकर लिवाई जा रही थी और मधुरी का भी गौना तय हो चुका था।

भोला का बैठकख़ाना खपड़ों से छाया हुआ था। दूर से ही जगमगा रहा था। अभी पिछले वर्ष ही बाहरी उठ-बैठ के लिए भोला ने यह घर तैयार करवाया था। दीवारें कच्ची ईंटों की, छप्पर बाँस-फूस के। ऊपर खपरैल। पाँच सौ का ख़र्चा पड़ा तो पड़ा लेकिन बस्ती गोंढ़ियारी में यह एक शानदार बैठकख़ाना तैयार हो गया। मछुओं की समूची बिरादरी को इस पर गर्व था।

पीछे अंदरवाले घर थे, सामने बड़ा-सा आँगन था—बाहरी सहन। सहन के बाईं ओर, छोर पर दो बैल बँधे थे जिनके सामने काठ की छोटी नाँद पड़ी थी। दाहिनी तरफ़ बाँस के दो खूँटों के सहारे एक पुरानी डोंगी आधी खड़ी थी, दो बढ़ई नीचे बैठ उसकी पेंदी की मरम्मत में लगे थे। बसूला, रुखान, रंदा, आरी, बर्मा, नाप-निशान के लिए कालिख पुती सुतरी, इंच, रेती, टाँगी, काठ का हथौड़ा...कितने ही औज़ार इर्द-गिर्द बिखरे पड़े थे। रह-रहकर ठुक-ठुक की आवाज़ें निकल रही थीं। ज़रा हटकर रस्सी-समेत डोल रखा था, आसपास की हल्की भीगी धरती उसके चूते रहने का सबूत पेश कर रही थी। दिनांत की धूप सहन की पूर्वी छोर को छूने ही वाली थी। बैठक के बरामदे पर खंभेली से पीठ टिकाकर बिसुनी बैठा था और जाल बुन रहा था।

बाहर वाली अँगनाई पार करके, बैठकख़ाना के पास से होती हुई मधुरी भोला के परिवार में पहुँच गई।

कपड़े पर सूखे बड़े चिपके हुए थे, ओसारे पर बैठकर मंइञा उन्हें छुड़ा रही थी। सोलह-साला जिलेबियां चूल्हा सुलगाने की फ़िक्र में थी। मंगल की माँ के हाथों में तराज़ू और बटखरा था, चावल तोल रही थी। भोला और मंगल कहीं गए हुए थे। मंगल मधेपुर गया था फ़ुटबाल मैच देखने। छोटी लड़की सिलेबिया पड़ोस के बच्चों में खेलने गई थी।

मधुरी मंइञा के पास जा बैठी और बड़े छुड़ाने में हाथ बटाने लगी।

मंइञा ने ग़ौर से मधुरी का चेहरा देखा। बोली—ताड़ होती जा रही दिन से दिन! क्यों री?

मधुरी संकोच के मारे झुक गई। मंगल की माँ ने उधर से कहा—इसका भी गौना बैसाख तक हो जाएगा।

इस चर्चा से जिलेबिया को गुदगुदी-सी महसूस हुई, जी में आया कि वह भी

कुछ कहे। लेकिन माँ के डर से चुप रही। पर, दादी (मंइञा) के सामने अनाप-शनाप चाहे जो भी बक जाती, कोई बात नहीं।

अपने गौना के बारे में मधुरी अब और कुछ नहीं सुनना चाहती थी। चाहती थी मंगल की बहू के बारे में सुनना, बल्कि इसीलिए आई थी।

ससुराल में तेरे कौन-कौन हैं?—बुढ़िया ने पूछा और लगा कि अभी वह इस प्रकार की अपनी अनेक जिज्ञासाएँ मधुरी के शब्दों में पूरी करना चाहती है।

मंइञा का प्रश्न बेकार गया। मंगल की माँ का सारा ध्यान चावल तोलने में केन्द्रित था और मधुरी मौन थी।

कि जिलेबिया ने एक साधारण-सी बात कहकर प्रसंग ही बदल दिया। चूल्हा सुलग उठा तो वह बोली—पहले हमारी भाभी आ लेगी, मधुरी का गौना बाद को होगा।

मधुरी ने चट से पूछा—तेरी भाभी के कितने भाई हैं जिलेबिया?

—तीन।

—और बहनें?

—भाभी को छोड़कर दो और हैं।

इस तरह के सवाल-जवाब दस-पाँच और चले। फिर कुछ क्षण बाद, सुलगाई हुई टिकिया चढ़ाकर जिलेबिया मंइञा को हुक्का थमा गई तो ध्वनि और स्फोट का श्रुतिमधुर सिलसिला चला—गुड़-गुड़-गुड़-गुड़-गुड़ क, गुड़-गुड़-गुड़-गुड़...

कपड़े से चिपके हुए सूखे बड़े अलग हो चुके थे। बड़ों से भरी चंगेरी जिलेबिया अंदर रख आई तो मधुरी से सटकर बैठी।

मधुरी खिसककर मंइञा के पीछे-पीछे उकड़ूँ बैठ गई।

बुढ़िया के बाल अब भी सारे के सारे सफ़ेद नहीं हुए थे, रूखे-सूखे अवश्य थे। मधुरी ने बालों के जंगल में जूँ का शिकार शुरू कर दिया। एक-एक बाल की जड़ में अपनी ताज़ा और पैनी निगाहें फेंकने लगी। नज़रों की सफ़ाई और उँगलियों की फुर्ती, जूँ की गिरफ़्तारी के लिए बस और चाहिए ही क्या? शिकार हाथ आने लगे और अँगूठों के नाख़ूनी पाटों पर टपाटप उनकी कचूमर निकलने लगी। बीच में एक बार अंडों वाली बड़ी जूँ पकड़ में आई तो मधुरी का चेहरा चमक उठा और विस्मय में हल्की चीख निकली—गे मंइञा! कैसा-कैसा जानवर पाले हुए है तू! तब जिलेबिया ने उस जूँ को अपने क़ब्जे में ले लिया।

ज़रा देर बाद मंइञा के कंधे में अपनी ठुड्डी धँसाकर आहिस्ते से पूछा—किसलिए बुलाया था मुझे?

बुढ़िया बोली—बहू आएगी, मेहमान आएँगे। मंगल की माँ अकेले क्या-क्या

करेगी? तुझको अभी से सब कुछ समझ-बूझ के रखना है, नहीं तो बखत पर मुँह बा देगी! हाँ!

मंगल की माँ तौलने का काम ख़तम कर चुकी थी। खड़ी हुई, नज़दीक आई और हाथ चमकाकर कहा—तू तो अब आती ही नहीं?

स्वरों में उपालंभ की झाँस थी। मधुरी ने उसे अनुभव किया। सचमुच वह पंद्रह रोज़ बाद आज इधर आई थी। सफ़ाई के तौर पर कुछ कहना ज़रूरी हो गया।

मंइञा के बालों को छोड़ दिया। सामने आ गई और कहा—माँ की तबीयत ठीक नहीं थी, पिछले दिनों। घर की सारी ज़िम्मेदारी मेरे माथे आ पड़ी थी मइंञा!

मंगल की माँ ने अपनी बेटी से कहा—देख क्या रही है मुलुर-मुलुर! चावल उठाकर अंदर रखेगी कि नहीं?

फिर मधुरी की ओर देखकर बोली—देखती है मधुरी, सोलह साल की हो गई तो भी जिलेबिया के मग़ज में अपने आप कोई बात नहीं आती है! पग-पग पर भूँकना पड़ता है, तभी समझती है। हाय राम, ससुराल में कैसे इस भकोल का निबाह होगा!!...

बाँह-समेत हाथ उठाकर मंइञा बीच में ही टप्प से बोली—तू जब पीहर से पहले-पहल यहाँ आई थी तो दाल छौंकने तक का लूर नहीं था! हूँ!!

मंगल की माँ ने इस पर कहा—जिलेबिया ससुराल जाएगी तो दाल-भाजी बघारने के लिए तुम साथ जाना, हूँ!

मधुरी ने बीच-बचाव किया, बोली—नहीं काकी, जिलेबिया मछली अच्छा पकाती है! मेरे सामने तुम इसको बेशऊर न कहना!

खेल-खेल में सिलेबिया को किसी ने कुढ़ा दिया था। रोती हुई आकर माँ के सामने खड़ी हो गई तो सबका ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया उसने।

नागार्जुन : जीवन वृत्त

नाम	: वैद्यनाथ मिश्र (मातृभाषा मैथिली में 'यात्री' नाम से लेखन)
पिता का नाम	: श्री गोकुल मिश्र।
माँ का नाम	: श्रीमती उमा देवी।
जन्म तिथि	: ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा, 1911, सतलखा (ननिहाल), ज़िला मधुबनी।
शिक्षा	: तरौनी टोल संस्कृत पाठशाला (तरौनी); गनौली और पचगछिया से व्याकरण मध्यमा। चार साल तक काशी और कलकत्ता में संस्कृत अध्ययन एवं शास्त्री (काशी) तथा काव्यतीर्थ (कल.) की उपाधि। केलानिया कोलम्बो में पालि भाषा और बौद्ध दर्शन का विशेष अध्ययन।
प्रथम कविता	: 1929 में पहली कविता 'मिथिला' (मैथिली भाषा) का प्रकाशन
विवाह	: 1932 में अपराजिता देवी के साथ विवाह। 1934 से 1941 तक यायावरी। पंजाब, राजस्थान, हिमाचल, गुजरात, काठियावाड़ में घुमक्कड़ी। पंजाब में *दीपक* का संपादन।
प्रथम हिन्दी कविता	: 1933 में *विश्वबंधु* साप्ताहिक, लाहौर में पहली हिन्दी कविता 'राम के प्रति' का प्रकाशन। (अनुपलब्ध)
बौद्ध धर्म में दीक्षा	: 1936 में सिंहल में विद्यालंकार परिवेण में नागार्जुन नाम ग्रहण किया।
संपर्क	: 1938 में राहुल सांकृत्यायन तथा स्वामी सहजानंद और सुभाषचंद्र बोस के संपर्क में आए। 1939 में अमवारी में किसानों के आंदोलन का नेतृत्व। छपरा और हज़ारीबाग़ के सेण्ट्रल जेल में दस माह की सज़ा। 1941 में दूसरी बार भागलपुर जेल में आठ माह की सज़ा। 1941 में गृहस्थाश्रम में पुनः प्रवेश। 1942 में फरारी हालत में पंजाब-सिन्ध की यात्राएँ। 1943 में पिता का देहांत। 1948 में गांधी वध पर लिखी कविता जब्त। जेल यात्रा। 1974 में बिहार में जयप्रकाश नारायण के आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी। 1975 में जेल में बंद तथा रिहाई।
मृत्यु	: 5 नवंबर, 1998, दरभंगा में लंबी बीमारी के बाद निधन।

परिशिष्ट-2

नागार्जुन का रचना-संसार

कविता-संग्रह : युगधारा, सतरंगे पंखोंवाली, प्यासी पथराई आँखें, तालाब की मछलियाँ, तुमने कहा था, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, हजार-हजार बाँहोंवाली, पुरानी जूतियों का कोरस, रत्नगर्भ, ऐसे भी हम क्या—ऐसे भी तुम क्या, ऐसा क्या कह दिया मैंने, इस गुब्बारे की छाया में, भूल जाओ पुराने सपने, अपने खेत में।

भस्मांकुर (प्रबंध काव्य)

चित्रा, पत्रहीन नग्न गाछ, पका है कटहल (मैथिली कविता संग्रह), मैं मिलिट्री का बूढ़ा घोड़ा (बाङ्ला कविता-संग्रह)

धर्मालोक शतकम् (सिंहली लिपि में), देश दशकम्, कृषक दशकम्, श्रमिक दशकम् (संस्कृत कविता)

उपन्यास : रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, दुखमोचन, कुम्भीपाक, अभिनंदन, उग्रतारा, इमरतिया, पारो, गरीबदास (हिन्दी उपन्यास)

बलचनमा, पारो, नवतुरिया, (मैथिली उपन्यास)

कहानी-संग्रह : आसमान में चंदा तैरे।

समीक्षा-संस्मरण : एक व्यक्ति : एक युग।

अनुवाद : गीत गोविन्द, मेघदूत, विद्यापति के गीत, विद्यापति की कहानियाँ।

सम्मान : साहित्य अकादेमी 1969 ('पत्रहीन नग्न गाछ', मैथिली में)

भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, राजेन्द्र शिखर सम्मान तथा साहित्य अकादेमी की फ़ेलोशिप से सम्मानित।